Journal of Socio-Educational & Cultural Research, Vol. 6, No. 13, July-Dec., 2020 ISSN : 2394-2878

परम्परागत शिक्षा में नवाचार एवं भावी चुनौतियॉं

डॉ0 सुरेन्द्र पाल
एसोसिएट प्रोफेसर
अध्यापक शिक्षा विभाग
डी0ए0वी0 कॉलिज, मुजफ्फरनगर
एवं
विपिन तेवतिया, शोधार्थी
अध्यापक शिक्षा विभाग
डी0ए0वी0 कॉलिज, मुजफ्फरनगर, उ0प्र0

सारांश

आधुनिक युग में देश में तीव्र गति से परिवर्तन हो रहे हैं। इन तकनीकी परिवर्तनों ने मानव से सम्बंधित सामाजिक, आर्थिक, वैज्ञानिक, शैक्षिक इत्यादि क्षेत्रों को परिवर्तित कर दिया है। हम विज्ञान, प्रौद्योगिकी और नवाचार से नये राष्ट्र का निर्माण कर रहे हैं। परिवर्तन और नवाचार एक दूसरे के पूरक हैं, यह नवाचारों के द्वारा निरन्तर क्रियाशील रहता है। शिक्षा नवाचारों के द्वारा हुए परिवर्तनों में अग्रणी रही है, जिससे नये विचारों, नई तकनीकीयों, नई विधियों का जन्म हुआ। जिससे शिक्षा के क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए। शैक्षिक नवाचारों का जन्म स्वयं नही होता अपितु इन नवाचारों को खोजना पडता है, तथा सुनियोजित ढ़ंग से प्रयोग में लाया जाता है, जिससे शैक्षिक परिवेश को और विकसित किया जा सके। इन परिवर्तनों से अनेक चुनौतियॉं भी उत्पन्न हुई जिनमें बेरोजगारी, कार्यअकुशलता, तनाव, ईर्ष्या, मानवीय मूल्यों का ह्रास, आतंकवाद इत्यादि हैं। इन चुनौतियों ने सभी का ध्यान अपनी और आकर्षित किया है। परम्परागत शिक्षा में नवाचारों के परिणामस्वरूप दूरस्थ शिक्षा, सतत् शिक्षा, रचनात्मक शिक्षा, जनसंख्या शिक्षा, सामुदायिक शिक्षा एवं अन्य नवीन शिक्षण पद्धतियों का विकास हुआ है, जिससे शिक्षा अधिक गुणवत्तायुक्त एवं प्रभावशाली हुई है। नवाचार विकासवादी प्रक्रिया का अंग है, इन नवाचारों के द्वारा हम विश्व के अग्रणी देशों में सम्मिलित हो विश्व को शैक्षिक और सतत् विकास का मार्गदर्शन करने में सफल होंगे। प्रस्तुत शोध पत्र में परम्परागत शिक्षा में नवाचार और भावी चुनौतियों का अध्ययन किया गया है।

मूलशब्दः— परम्परागत परिवर्तन, तकनीकीयां, नवाचार, शिक्षा प्रणाली, सर्वाग्रीण विकास,

प्रस्तावना :— मानव आदिकाल के युग से निकलकर वर्तमान वैज्ञानिक युग में प्रवेश कर चुका है। आज प्रत्येक जगह हमें कुछ न कुछ परिवर्तन होता दिखाई देता है, यह परिवर्तन हमारे विकास का प्रतीक है। परिवर्तन प्रकृति का नियम है, यह शाश्वत् है परिवर्तन निरन्तर विभिन्न क्षेत्रों को गति दे रहा है। वर्तमान विज्ञान व प्रौद्योगिकी के समय में आज सम्पूर्ण विश्व समुदाय प्रौद्योगिकी के साथ घनिष्ठ सम्बंध स्थापित करने में प्रयासरत है। इस प्रौद्योगिकी के माध्यम से ही हम समाज को आज विभिन्न संसाधनों को उपलब्ध कराने में तीव्र गति से आगे बढ रहे हैं। विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी से ही नवीन तकनीकीयों का विकास हुआ है। ये सभी तकनीकीयां समाज के विभिन्न क्षेत्रों में आज अपना

योगदान दे रही हैं। विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के द्वारा नवाचारों का विकास हुआ है, नवाचार के शाब्दिक अर्थ से ज्ञात होता है कि नवाचार नये आचरण अथवा व्यवहार को कहा गया है। अर्थात वह नया व्यवहार जो पूर्व मे प्रचलित आचरण अथवा परम्परा में नवीनता का समावेश करता है उसे ही नवाचार कहा जाता है। वैज्ञानिक युग में विभिन्न प्रौद्योगिकी के विकास की अवस्थाओं के द्वारा ही नवाचारों की उत्पत्ति हुई है ये नवाचार समाज के प्रत्येक क्षेत्रों में हुए हैं। इनमें से एक परम्परागत शिक्षा का क्षेत्र है। परम्परागत शिक्षा में होने वाले परिवर्तन विभिन्न शिक्षा मनोवैज्ञानिकों, शिक्षा दार्शनिकों एवं शिक्षा समाजशास्त्रीयों के द्वारा समय–समय पर किये गये हैं। शिक्षा परिवर्तनों में शिक्षा अनुसंधानों का भी विशेष योगदान है, इन परिवर्तनों ने शिक्षा के क्षेत्र को अधिक प्रभावशाली एवं लाभप्रद रूप प्रदान किया है नवाचारों से परम्परागत शिक्षा प्रणाली में अनेक नवीन तकनीकीयों एवं विचारों का विकास हुआ जिसके परिणामस्वरूप अधिगम के नवीन सिद्धान्तों का शिक्षा प्रणाली में समावेश हो रहा है। एच0जी0 बारनेट ने कहा है कि किसी भी प्रणाली अथवा व्यवस्था में हुए परिवर्तन को तब–तक नवाचार के रूप में स्वीकार नहीं करते जब–तक कि उस प्रणाली अथवा व्यवस्था में गुणात्मक परिवर्तन नहीं हो जाता अर्थात गुणात्मक परिवर्तन नवाचार का रूप है। एम0वी0 माइल्स ने भी स्पष्ट करते हुए कहा है कि वह प्रत्येक नवाचार जो सोच समझकर किया जाये एवं नवीन और विशिष्ट परिवर्तन हो जो कि उस प्रणाली अथवा व्यवस्था के उद्देश्यों का प्राप्त कर सकने में अधिक प्रभावशाली हो उन्ही को नवाचार स्वीकार किया जाये। युनेस्को ने भी नवाचारों को एक नवीन विचार का प्रारम्भ माना है जोकि एक प्रक्रिया अथवा तकनीक है जिसका प्रयोग उन प्रचलित तकनीकीयों अथवा व्यवहारों के स्थान पर किया जाता है जो पूर्व स्थापित है और इनको विभिन्न परिक्षणों के क्रियान्वयन की गुणवत्ता के आधार पर उपयोग में लाया जाता है। ये सभी परिवर्तन सुधारात्मक प्रक्रिया के आरम्भिक चरण माने जाते हैं। नवाचारों की एक प्रक्रिया होती है इसमें पूर्वनिश्चित कुछ अवस्थाएं एवं पद होते हैं, प्रत्येक नवाचारों को स्वीकार करने के लिए उन पूर्व निश्चित पदों अथवा अवस्थाओं का पालन करना होता है। इस प्रक्रिया के अन्तर्गत विभिन्न चुनौतियों का सामना करते हुए शिक्षा की गुणवत्ता में उन्ययन किया जाता है।

शोध का औचित्यः–

प्रस्तुत शोध में शोधकर्ता ने परम्परागत शिक्षा में नवाचार और भावी चुनौतियों का अध्ययन किया है, यह शोध परम्परागत शिक्षा प्रणाली में हुए नवाचारों एवं चुनौतियों को ज्ञात करके शिक्षा को और अधिक प्रभावशाली बनाने में सहायक होगा एवं शिक्षार्थियों को नवीन विचारों को धारण करने के लिए प्रेरित करेगा।

शोध के उद्देश्य :–

1 परम्परागत शिक्षा में नवाचारों का विश्लेषनात्मक अध्ययन करना।

2 परम्परागत शिक्षा में नवाचारों की भावी चुनौतियों का विश्लेषनात्मक अध्ययन करना।

3 शिक्षा की गुणवत्ता हेतु विभिन्न सुझावों का अध्ययन करना।

शोध विधि :–

प्रस्तुत शोध विश्लेषनात्मक एवं वर्णात्मक विधि पर आधारित है इस शोध में पूर्णत्या द्वितीय आंकडों का प्रयोग किया गया है, इससे विभिन्न शोध पत्रों, पत्र–पत्रिकाओं, लेखों एवं पुस्तकों का सन्दर्भ लेते हुए वर्णात्मक व्याख्या एवं निषकर्ष निकाले गये हैं।

व्याख्या :–

प्रस्तुत शोध का विश्लेषनात्मक अध्ययन करने के उपरान्त शोधार्थी ने परम्परागत शिक्षा में नवाचारों और भावी चुनौतियों के विभिन्न पहलुओं एवं सुझावों की वर्णात्मक व्याख्या की है।

परम्परागत शिक्षा में नवाचारों की अवधारणा :– शिक्षा में हुए नवाचारों से ज्ञान का विस्तार हुआ है एवं इनके समावेश से शिक्षा में नवीन अवधारणाओं और शिक्षा सम्बंधी कार्यक्रमों में वृद्धि हुई है, जिसका विवरण निम्न बिंदुओं में अंकित किया गया है।

1 शिक्षा की मनोविज्ञान प्रवृत्ति :– इस प्रवृत्ति ने मनोविज्ञान के शैक्षणिक परिस्थितियों में मानव व्यवहार के अध्ययन को महत्व दिया है एवं शिक्षा प्रणाली के विभिन्न अंगों शिक्षा के उद्देश्य, पाठ्यक्रम शिक्षण विधियों, अनुशासन, शिक्षक, शिक्षार्थी आदि से सम्बंधित नवीन विचारों का विकास किया है। वर्तमान में हम शैक्षिक समस्याओं के समाधान के लिए मनोविज्ञान के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को उपयोग में ला रहे हैं।

शिक्षा मनोविज्ञान ने शिक्षा को एक नया स्वरूप प्रदान किया है, जिससे बालक का सहज विकास हो सके तथा पाठयक्रम, शिक्षण विधियों एवं अध्ययन सामग्री को नवीन रूप दिया जा सके, जिससे शिक्षा को एक आनन्ददायी तथा सक्रिय भागीदारी वाली प्रक्रिया बनाया जा सके।

2 शिक्षा की वैज्ञानिक प्रवृत्ति :– आधुनिक युग में वैज्ञानिक आविष्कारों ने हमारे जीवन के प्रत्येक पक्ष को प्रभावित किया है। विज्ञान ने सत्य एवं तथ्यों के महत्व को बढा दिया है, जिससे शिक्षा में प्रयोगवादी विचारधारा का उदय हुआ, प्रयोग द्वारा स्थापित सिद्वान्तों को आज हम महत्व देनें लगे हैं, ऐसा क्यों है? कैसे हुआ? आदि प्रश्नों के हल को महत्व देते हैं। आज सामाजिक अंधविश्वास, मान्यताओं एवं मानव विकास के मार्ग में बाधा उत्पन्न करने वाले तथ्यों को विज्ञान ने नकार दिया है अर्थात विज्ञानवादी प्रवृत्ति पूर्व स्थापित नियमों को विज्ञान की कसोटी पर सत्य सिद्ध होने के उपरान्त ही स्वीकार करती है। वैज्ञानिक प्रवृत्ति ने हमारे जीवन को परिवर्तित कर दिया है। विज्ञान ने शिक्षा के क्षेत्र में अनुसंधानों को बढा दिया है जिससे उपयोगितावादी शिक्षा के दृष्टिकोण का विकास हुआ है। विज्ञान शिक्षा के प्रत्येक क्षेत्र को प्रायोगिक और उपयोगितावादी बनाने में प्रयासरत है। वैज्ञानिक प्रवृत्ति शिक्षा में होने वाले परिवर्तनों की प्रक्रिया का आधार है।

3 दूरस्थ शिक्षा :– परम्परागत शिक्षा ग्रहण न कर सकने वाले शिक्षार्थियों को शिक्षित करने के लिए दूरस्थ शिक्षा की भूमिका वर्तमान में उपयोगी सिद्ध हुई है। दूरस्थ शिक्षा, शिक्षा का वह स्वरूप है जहां शिक्षार्थी को दूर से शिक्षा ग्रहण करने की व्यवस्था की जाती है। इसमें शिक्षार्थी कक्षा कक्ष में उपस्थित होकर अध्ययन करने की बाध्यता से मुक्त रहता है अर्थात दूरस्थ शिक्षा प्रणाली प्रचलित परम्परागत शिक्षा प्रणाली के विपरीत है। दूरस्थ शिक्षा मे शिक्षार्थी अपने–अपने स्थान पर रहते हुए स्वयं अध्ययन करतें है। शिक्षार्थी अपने–अपने पाठ्यक्रमों से सम्बंधित अध्ययन के लिए विभिन्न साधनों एवं सहायक सामग्रीयों की सहायता लेते हैं, जिनमें मुख्यतः आकाशवाणी, दूरदर्शन, टेपरिकॉडर, ऑडियों एवं विडियो कैसेट और पाठ्यपुस्तकें है। दूरस्थ शिक्षा देश के दूरदराज क्षेत्रों में निवास करने वाले शिक्षार्थियों के लिए वरदान साबित हुई है जो विभिन्न कारणों से विद्यालय नहीं पहुॅच सकते हैं या अपनी पढाई बीच में ही छोड देते हैं। दूरस्थ शिक्षा में प्रवेश के नियम परम्परागत शिक्षा प्रणाली से सरल होते हैं, दूरस्थ शिक्षा विभिन्न काम–धन्धों एवं नौकरीयों में लगे व्यक्तियों को ज्ञान, कौशल, विज्ञान एवं तकनीकी क्षेत्र का नवीन ज्ञान ग्रहण करने का अवसर प्रदान करती है।

4 पर्यावरण शिक्षाः– पर्यावरण शिक्षा एक ऐसी नवीन अवधारणा है, जिसे शिक्षा प्रणाली ने सहज स्वीकार किया है। मानव समाज ने प्रदूषण की बढती समस्या के समाधान के लिए पर्यावरणीय शिक्षा के अध्ययन को महत्व दिया, पर्यावरण प्रदूषण आज गंभीर समस्या बन गई है। पर्यावरण प्रदूषण के खतरे से आज सम्पूर्ण विश्व चिन्तित है इससे मुक्ति का मार्ग हम पर्यावरण शिक्षा में खोजते हैं। पर्यावरण शिक्षा मानव समाज को पर्यावरण विषय का सम्पूर्ण ज्ञान देती है। जिससे मानव प्राकृतिक एवं भौतिक वातावरण के बीच सन्तुलन स्थापित कर सके। वर्तमान में पर्यावरण प्रदूषण एवं पारिस्थितिकी असन्तुलन हमारे तीव्र विकास और भौतिकवादी इच्छापूर्ति का परिणाम है। पर्यावरण शिक्षा मानव, पशु, वनस्पति एवं पारिस्थितिकी तंत्र में घनिष्ठ सम्बंध स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील है। पर्यावरण शिक्षा प्राकृतिक सम्पदाओं– भूमि, जल, वायु, खनिज, वन आदि के समुचित प्रयोग को महत्व देती है एवं इन्हें आने वाली पीढ़ियों के लिए दीर्घकाल तक सुरक्षित रखना चाहती है क्योंकि पर्यावरण प्रदूषण ने मानव के साथ–साथ अन्य प्राणियों तथा वनस्पतियों को भी प्रभावित किया है। पर्यावरण शिक्षा प्रकृति के अनुकूल व्यवहार अपनाने को प्रेरित करती है।

जनसंख्या शिक्षा :– नवाचार के अर्न्तगत जनसंख्या शिक्षा एक नवीन प्रत्यय है जनसंख्या शिक्षा के अन्तर्गत जनसंख्या से सम्बंधित विभिन्न पक्षों–आर्थिक, सामाजिक, पर्यावरण और जनसंख्या नियंत्रण के कार्यक्रम जनसंख्या आकार, जनसंख्या वृद्धि, जनसंख्या एवं स्वास्थय, परिवार, समुदाय, राष्ट्र और विश्व के जनसंख्या नियोजन के उद्देश्यों इत्यादि का अध्ययन किया जाता है। आज सम्पूर्ण विश्व बढती जनसंख्या के दबाव से विस्फोटक स्थिति में पहुंच गया है कि सभी व्यक्तियों को जीवन यापन करने के लिए अनिवार्य संसाधन उपल्बध कराना कठिन चुनौती बन गया है इस समस्या ने सभी को प्रभावित किया है हमें समय रहते जनसंख्या शिक्षा के माध्यम से समस्या के समाधानों को प्राप्त करना होगा, क्योंकि जनसंख्या और शिक्षा के मध्य निर्णायक सम्बंध है। शिक्षित परिवारों में जनसंख्या वृद्धि दर कम है और अशिक्षित परिवारों में जनसंख्या वृद्धि दर अधिक है। जनसंख्या शिक्षा के व्यापक प्रचार–प्रसार से शिक्षित परिवारों के साथ–साथ अशिक्षित परिवारों में भी कम बच्चे पैदा करने की चेतना को जागृत किया जा सकता है।

सामुदायिक शिक्षा :– समुदाय और शिक्षा के मध्य घनिष्ठ सम्बंध है, शिक्षा समाज की प्रगति का आधार है। शिक्षा व्यवस्था एसी हो जो शिक्षार्थी में सामुदायिक भावना का विकास करे जिससे एक दूसरे के प्रति प्रेम, सहयोग, सेवाभाव, सहिष्णुता, धर्मनिरपेक्षता आदि सामुदायिक गुणों को जागृत किया जा सके इसी अवधारणा के फलस्वरूप सामुदायिक शिक्षा के प्रत्यय का विकास हुआ। शिक्षा के साथ सामुदायिक सेवा की धारणा शिक्षा में आधुनिक समय की आवश्यकता है। प्राचीन शिक्षा प्रणाली में शिक्षार्थी को स्वावलम्बी बनाने के साथ–साथ उनमें सामाजिक गुणों का भी विकास किया जाता था, परन्तु वर्तमान समय में शिक्षा और समाज की बढती दूरी ने शिक्षार्थी को सामुदायिक गुणों से दूर कर दिया है। जिसने समाज शिक्षा एवं समुदाय के बीच की दूरी बढा दी है अतः सामुदायिक शिक्षा शिक्षार्थी को समाज से जाडने पर बल देती है। सामुदायिक सेवा एवं गतिविधियों के रूप में शिक्षण संस्थाओं की महत्वपूर्ण भूमिका है इसी दृष्टि को ध्यान में रखते हुए शिक्षा को सामाजिक गुणों से ओतप्रोत शिक्षार्थी तैयार करने की भूमिका निभानी चाहिए।

परम्परागत शिक्षा में नवाचारो की चुनौतियों का स्वरूप :– शिक्षा में हुए नवाचारों ने मानव एवं समाज का विकास तो किया है परन्तु इन नवीन अवधारणाओं से हमारे सामने विभिन्न चुनौतियां भी उत्पन्न हुई हैं। जिनको निम्न बिदुंओं द्वारा व्यक्त किया गया है–

1 शिक्षा की मनोविज्ञान प्रवृत्ति सम्बंधी चुनौती :–

- मनोविज्ञान के आधार पर शिक्षा प्रणाली को विकसित करना।
- शिक्षा का अर्न्तजगत और बाह्य जगत से सम्बद्व स्थापित करना।
- शिक्षार्थियों के संवेगों, मनोभावों, भावनाओं को पाठ्यक्रम में स्थान दिलाना।
- शिक्षार्थियों को दमनकारी प्रवृत्ति से दूर रखना।
- बालक की विभिन्न अवस्थाओं के अनुरूप शिक्षण प्रणाली विकसित करना ।
- वैयक्तिक भिन्नता के आधार पर शिक्षा की व्यवस्था करना।
- अधिगम के बाधक तत्वों का निराकरण करना।
- शिक्षार्थी की रूचि एवं क्षमता के अनुरूप शिक्षा की रूपरेखा बनाना।
- शिक्षार्थियों में समायोजन की आदत का विकास करना।
- शिक्षार्थी का सर्वांगीण विकास करना।

2 शिक्षा की वैज्ञानिक प्रवृत्ति सम्बंधी चुनौती :–

- शिक्षा द्वारा वैज्ञानिक आधार को गति देना।
- शिक्षा द्वारा व्यक्तिक और सामाजिक सम्बंधों में समन्वय स्थापित करना।
- पाठ्यक्रम को प्रगतिशील बनाना।
- शिक्षा द्वारा प्रयोगवादी विचारधारा का विकास करना।
- शिक्षार्थी को भविष्य के लिए तैयार करना।
- निरीक्षण, परीक्षण सम्बन्धी शिक्षण विधियों का विकास करना।
- शिक्षा को व्यवहारिक रूप प्रदान करना।
- शिक्षार्थियों में वैज्ञानिक दृष्टिकोण विकसित करना।
- समाज को अधंविश्वास, परम्पराओं से मुक्ति देना।
- विज्ञान विषय के प्रति भय की भावना का अन्त करना।

3 दूरस्थ शिक्षा सम्बन्धी चुनौतीः–

- शिक्षार्थी एवं शिक्षक के बीच सम्पर्क न होने से शिक्षार्थी की समस्याओं का उचित निराकरण न होना।
- दूरस्थ शिक्षा के प्रत्ययों का आसानी से समझ में न आना।
- संचार साधनो का समुचित रूप से उपलब्ध न हो पाना।
- औपचारिक शिक्षा प्राप्त शिक्षार्थियों की तुलना में दूरस्थ शिक्षा प्राप्त शिक्षार्थीयों को निम्न स्तर का माना जाना।
- विद्यार्थियों में सामाजिक गुणों का विकास करना।
- दूरस्थ शिक्षा का प्रचार–प्रसार करना।
- शिक्षार्थी के व्यक्त्वि का सर्वांगीण विकास करना ।

- दूरस्थ शिक्षा को सामाजिक स्तर पर ख्याति दिलवाना।
- प्रसारित कार्यक्रमों एवं अधिगमकर्त्ता के मध्य उचित तालमेल स्थापित करना।
- दूरस्थ शिक्षा की अध्ययन सामग्री महंगी होना।

4 पर्यावरण शिक्षा सम्बंधी चुनौती :–

- समाज में पर्यावरण सम्बन्धी जागरूकता लाना।
- भौतिकवादी प्रवृत्ति की लालसा को रोकना।
- प्राकृतिक सम्पदाओं का अनुचित प्रयोग रोकना।
- आर्थिक विकास के आधार पर प्रकृति को नष्ट होने से बचाना।
- पर्यावरण संरक्षण की अवधारणा विकसित करना।
- प्रदूषण को नियंत्रित कर इसके स्तर को घटाना।
- मानव एवं परिस्थितिकी तंत्र में घनिष्टता स्थापित करना।
- पर्यावरण संरक्षण के साथ विकास का मार्ग खोजना।
- जीव जंतुओं को लुप्त होने से बचाना।
- पर्यावरण सुरक्षा में जन–सहभागिता को प्रोत्साहित करना।

5 जनसंख्या सम्बन्धी चुनौतीः–

- जनसंख्या शिक्षा का प्रचार–प्रसार करना।
- आर्थिक विकास व जनसंख्या में सम्बन्ध स्थापित करना।
- जनसंख्या विषयक गोष्ठियों में जन–सहभागिता बढाना।
- जन्म दर एवं मृत्यु दर का अन्तर।
- जनसंख्या सम्बंधी प्रदर्शनियों के लिए धन का अभाव।
- जनसंख्या घनत्व का निरन्तर बढना।
- अंधविश्वास एवं रूढिवादीता में पुत्र मोह का होना।
- अशिक्षा का होना।
- जनसंख्या सम्बंधी कार्यक्रमों को लागू करना।
- गरीबी का होना।

6 सामुदायिक शिक्षा सम्बंधी चुनौतीः–

- सभी शिक्षार्थियों को सामुदायिक गतिविधियां कराना।
- शिक्षा और समाज में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करना।
- सहयोग, प्रेम, सदभाव की भावना का विकास करना।
- शिक्षा को व्यवहारिक एवं समाजोन्मुखी बनाना।
- आर्थिक उन्नती के साथ सामाजिक उन्नती की परिस्थितियों का निर्माण करना।
- सामाजिक भेदभाव को समाप्त करना।

- सामाजिक कुरूतियों के विरूध जन–सहयोग स्थापित करना।
- सामाजिक कार्यों में रूचि उत्पन्न करना।
- लैंगिक भेदभाव को दूर करना।
- विद्यालय को समाज के निकट ले जाना।

शिक्षा की गुणवत्ता के सुझावः–

किसी भी देश और उसके समाज के विकास का आधार उस देश की गुणवत्तायुक्त शिक्षा प्रणाली है।आज विश्व विकसित राष्ट्र, विकासशील राष्ट्र एवं अविकसित राष्ट्र की श्रेणी में विभाजित हैं। इसमें उन राष्ट्रों की गुणवत्तायुक्त शिक्षा का विशेष महत्व दिया जाना चाहिए जो कि अविकसित एवं विकासशील हैं। जिस देश की जैसी शिक्षा व्यवस्था होगी वह उसी के अनुरूप विकास करेगा, आज गुणवत्तायुक्त शिक्षा प्रत्येक राष्ट्र की आवश्यकता है।

हमारे देश में विद्यालय की संख्या में तो वृद्धि हुई है किन्तु शिक्षा की गुणवत्ता पर ध्यान नही दिया गया अब हमें शिक्षा में गुणवत्ता स्थापित करने के लिए और अग्रसारित होना होगा। देश में शिक्षा की गुणवत्ता में सुधार सर्वोचय प्राथमिकता में होना चाहिए। शिक्षा में गुणात्मकता स्थापित करने हेतु निम्न बिंदुओं को रेखांकित किया जा सकता है–

- ज्ञानार्जन के लिए इनपुट के नतीजों पर ध्यान केन्द्रित करना।
- निष्पक्षता एवं अभिगम्यता सुनिश्चित करना।
- शिक्षार्थियों के औसत ज्ञान में वृद्धि करना।
- शिक्षार्थियों में पढनें की समझ विकसित करना।
- शुद्ध लेखन के कौशल में वृद्धि करना।
- पाठयक्रम सम्बंधी ज्ञान में वृद्धि करना।
- पाठयक्रम सम्बंधी ज्ञान के स्तर को उच्च करना।
- शिक्षक एवं शिक्षार्थियों के मध्य प्रभावी संवाद स्थापित करना।
- कक्षा–कक्ष का उचित प्रबंधन करना।
- निर्देशन एवं परामर्श की उचित व्यवस्था करना।
- अधिगम को प्रोत्साहित करने वाली गतिविधियों को उपयोग में लाना।
- संरचनात्मक अध्यापन को अपनाना।
- शिक्षक एवं शिक्षार्थियों की कक्षा–कक्ष में नियमित उपस्थिति लागू करना।
- आई0सी0टी0 समर्थित शिक्षण उपयोग में लाना।
- शिक्षण परिणामों में सुधार लाना।
- समझ के साथ पठन के अध्ययन को महत्व देना।
- विज्ञान एवं प्रौधोगिकी के अध्ययन को रूचिकर बनाना।
- आई0आई0टी0, एन0आई0टी0 जैसे संस्थानों से परामर्श के अवसर उपलब्ध कराना।
- शिक्षार्थियों में विश्लेषण, सश्लेषण, मूल्यांकन करने की क्षमता का विकास करना।

- सरकारों, नीति निर्माताओं, प्रशिक्षण संस्थाओं, शैक्षिक प्रशासकों के द्वारा गुणवत्ता निगरानी तंत्र विकसित करके जवाबदेही तय करना।
- अध्ययन लक्ष्यों की तुलना में छात्रों के प्रदर्शन का मूल्यांकन करना।
- नियमित और निरन्तर मूल्यांकन का सकारात्मक परिवेश तैयार करना।
- शिक्षा में रिक्त पदों पर नियुक्ति करना।
- शिक्षण संस्थाओं के विभिन्न आयामों का निरन्तर मूल्यांकन करना।
- शिक्षा बजट में वृद्धि करना।
- शिक्षण संस्थाओं को आत्म–मूल्यांकन के लिए प्रेरित करना।
- शिक्षक और शिक्षार्थियों का आधार डाटा बेस तैयार करना।
- निजी संस्थाओं के लिए निगरानी तंत्र विकसित करना।
- निर्णय होने और जवाबदेही का विकेन्द्रीकरण करना।
- कौशलों को विकसित करना।
- पाठयक्रम को व्य वहारिक बनाना।
- अनुसंधान को बढावा देना।
- परीक्षा प्रणाली में सुधार करना।
- मूलभूत सुविधाएं उपलब्ध कराना।
- शिक्षा में व्याप्त भ्रष्टाचार को समाप्त करना।
- नवाचार अपनाने वालों को प्रोत्साहित करना।

उसंहारः–

भारत में विभिन्न धर्मो, जातियों एवं सम्प्रदायों के लोग निवास करते हैं ये सभी जीवन के विभिन्न पक्षों में संवेदना, भावनाओं एवं मूल्यों को अधिक महत्व देते हैं जिनके परिणामस्वरूप हम वैज्ञानिक पद्धतियों एवं नवाचारों को जीवन में उतारने से हिचकते हैं। हमे गम्भीरतापूर्वक यह स्वीकार करना होगा कि नवाचारों को अपनाये इनका विरोध न करें हमारे समाज का एक पक्ष नवाचारों के मार्ग में चुनौतियां उत्पन्न करता है जो नये प्रयोग, नये विचारों को नकारता है नवाचारों को अपनाने वालों को हमे प्रोत्साहन देना चाहिए, सफलता को प्राप्त करने में नवाचार सदैव सहयोगी रहे हैं। वर्तमान समय में शिक्षा को और अधिक प्रभावोत्पादक एवं गुणवत्तायुक्त बनाने के लिए दिन–प्रतिदिन नवीन प्रयोग किये जा रहे हैं।

हम अपनी परम्परागत शिक्षा प्रणाली से भिन्न नवीन शिक्षा प्रणाली को अपना रहे हैं। नवीन शिक्षण प्रणाली में नई विधियों, नई प्राविधियों और नवीन शिक्षा तकनीकीयों को सम्मिलित किया गया है, ये सभी नवाचारों के अर्न्तगत आते हैं। इन नवाचारों के द्वारा शिक्षा को फलवादी रूप प्रदान किया जा सकेगा नवीन शिक्षा तकनीकीयों के द्वारा यर्थाथवादी रूप के लिए हमें उन सभी नवीन क्रिया पद्धतियों, योजना विधियों का समावेश करना होगा जिनमें नवाचारों का मुख्य स्थान है।

शिक्षा संस्थानों में नवीन प्रतिमानों के उदय के लिए नवाचारों का प्रयोग शिक्षा प्रणाली को अधिकाधिक गुणवत्ता प्रदान करने एवं शिक्षा को रूचिकर बनाने में सहायक है। राष्ट्रीय पाठयचर्या की

रूपरेखा 2005 छात्रों को बोधात्मक शिक्षण के माध्याम से सिखने को प्रेरित करती है, तथा रटने की प्रवृति का विरोध करती है, एवं विद्यालय वातावरण से बाहर के जीवन से छात्रों को जोडना चाहती है। नवाचार छात्रों की कल्पनाशक्ति को बढाने एवं विभिन्न क्रियाकलापों के द्वारा सीखने को प्रेरित करते है शिक्षा की विभिन्न तकनीकीयों नें नवाचारों की उपयोगिता को सिद्ध किया है। नवाचार से अधिगम की प्रक्रिया का सरलीकरण हुआ है एवं सीखने की प्रभावोत्पादकता में वृद्धि हुई है।

नवाचारों ने शिक्षा की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति में और विद्यालयों में शिक्षार्थियों की बढती उपस्थिति में मुख्य भुमिका निभाई है नवाचारों के द्वारा किये गये शिक्षण से शिक्षार्थियों को सीखने में आसानी हुई है एवं शिक्षार्थी तीव्र गति से सीखते हैं। जिससे विद्यालय में उनके ठहराव को बढाने में मदद मिली है। शिक्षण प्रक्रिया के तीनों ध्रुवों शिक्षक, पाठयक्रम, शिक्षार्थी के लिए नवाचार उपयोगी है यह विकासवादी प्रक्रिया का स्रोत है अधिगम की प्रक्रिया में तथा विद्यालय की परिस्थितियों में नवाचार के प्रतिमान का समावेश शिक्षार्थी को सीखने के लिए प्रेरित करेगा, जिससे शिक्षार्थी प्रगति के मार्ग पर अग्रसर हो सकेगें।

सन्दर्भ ग्रन्थः–

1 लाल0 वी0 विश्वनाथ एवं तिवारी, नरेशचन्द (2009) शिक्षा में नवाचार, विनोद पुस्तक मन्दिरआगरा।
2 मिश्रा, मन्जू (2009), भारतीय शिक्षा पद्धति और उसकी समस्याएं,ओमेगा पब्लिकेशन, नई दिल्ली ।
3 सूंटिया, सी सुभाष (2019), विद्यालय शिक्षा की गुणवत्ता में सुधार, एम0एच0आर0डी0, नई दिल्ली।
4 वर्मा सुभावन (2018) विकिपीडिया।
5 तिवारी, विश्वास (2019) विकिपीडिया।
6 वर्मा, निर्मला (2006), विश्व के महान शिक्षा शास्त्री, ओमेगा पब्लिकेशन, नई दिल्ली, ।

Construction and Validation of Mathematics Achievement Test for Students of Class 8

Vaibhav Sharma
Research Scholar
Ch. Charan Singh University, Meerut (UP)
vaibhavmaths@yahoo.com
Prof. J.S. Bhardwaj
Dean, Faculty of Education
Head, Department of Education
Ch. Charan Singh University, Meerut (UP)
bhardwajccsu@gmail.com

ABSTRACT

In the present paper, multiple choice questions type 'Mathematics Achievement Test' is constructing according to blue print. The construction of tool is important phase in a research. Achievement test measures the performance of the students, so it should be objective, reliable and validated. In the first draft, 52 items were formed on selected topics. For final draft of Mathematics Achievement Test 36 items were selected after item analysis. For this purpose, the difficulty value and discrimination power of each item were calculated. This reliability of Mathematics Achievement Test was calculated by Split Half method. The reliability coefficient of the Test was found 0.81.

Key Words: Test, Blue Print, Obectivity, Reliability, Validation, Achievement.

INTRODUCTION

In the dictionary of education, Academic Achievement means "The knowledge attained or skill developed in the school subjects usually indicated by test scores or by marks assigned by the teacher. Academic achievement describes academic results that show the degree to which a student has accomplished his learning objectives. With the help of academic achievement score, a teacher can judge the performance of a student.

According to the Cambridge University (2003), academic achievement is usually outlined in terms of examination performance.

Achievement test is a tool for teachers to evaluate students' performance in school. With the help of an achievement test, we can measure the amount of success of an individual in specific field. In school situation, it is used as an instrument to measure success of a student in particular subject. Achievement test helps to measures the capacities and capabilities of a student. It also helps to promote the students to next class.

According to Waters, "Achievement test act as useful aids in diagnosing the student's specific learning needs for identifying his relative strengths and weaknesses".

According to Free Man, "Achievement test is a test designed to measure knowledge, understanding and skills in a specified subject or a group of subjects".

An achievement must be objective, reliable and valid to measure the actual performance of the students. For developing Mathematics Achievement, the available conceptual and research literature related to construction of an achievement test was studied thoroughly. Some achievement tests constructed earlier by the researchers were also studied carefully. In this paper, complete procedure has been described how Mathematics achievement Test developed and validated. This test was constructed and validated by the researcher to determine the achievement of class 8 students. The test goes through the following steps:

- Planning of the test
- Items writing for the test
- Try out
- Item Analysis
- Establishment of Reliability
- Establishment of Validity
- Final form of the achievement test

PLANNING OF THE TEST

The syllabus and text book of mathematics for class 8 was explored in depth by the researcher. The researcher, in order to gain full knowledge of the topics, discussed with the experienced school teachers of mathematics and referred to other study material as well for the framing of test items. In this step, objectives, content, scoring process, number and types of test items, weightage to the objective and content etc were decided by the researcher.

Table-1: Blue Print of Mathematics Achievement Test (First Draft)

Sr. No.		Objectives of Cognitive Domain			Total (100)
	Content	Knowledge (46%)	Understanding (34%)	Application (20%)	
1.	Triangle	4	4	-	08
2.	Quadrilateral	4	2	4	10
3.	Circle	4	-	2	06
4.	Cube and Cuboids	4	4	2	10
5.	Cylinder	4	4	2	10
6.	Cone	4	4	-	08
	Total Marks	**24**	**18**	**10**	**52**

Only six topics were selected for this test and items were prepared on three level of cognitive domain knowledge, understanding and application.

ITEM WRITING

According to planned weightage to content and objectives, researcher prepared items of Mathematics Achievement Test on the basis of the Syllabus of Class VIII. The researcher constructed multiple choice questions for this achievement test. There were four alternatives, in which one is correct.

TRYOUT

Try out helped the researcher to select, reject and modify the items. The draft test of Mathematics Achievement Test consisting of 52 multiple choice items was first tried out by the researcher on a small sample of 40 students of class 8. Some suggestion were given by the students, according to them some modification were made. Now, the test was administered on 213 students. The draft test material and response sheets in sufficient numbers were provided to the students. During the test, researcher was present in the classroom. The draft test included all the essential guidelines and instruction about the test were given by the researcher. After the completion of the test, the researcher collected all the response sheets and scored them. 19 answer sheets were rejected due to certain reason, remaining 194 sheets were considered for the process of item analysis. For one mark was given for the correct answer. Following this scoring process, answer sheet of every student was evaluated.

ITEM ANALYSIS

Now in the process of validation of Mathematics Achievement Test, next step was item analysis. Item analysis is the process to improve the test by selection, rejection and some modification or revision of items. For this purpose, researcher followed the procedure suggested by Ebel and Frisbie (1991). This procedure is described below:

- The scores of evaluated answer sheets of 194 students were tabulated according to proper class interval.
- These scores were segregated into three groups: Upper, Middle and Lower. Scores obtained by the top 27 % students were considered as Upper group and below 27 % were considered as Lower group.
- For the dichotomizing, percentile technique was applied to the scores. For the top 27 % scores, P_{73} and for the below 27 % scores P_{27} were calculate. .
- By the percentile technique, researcher got P_{73} as and P_{27} as . Students with score 34 or more than 34 were kept in upper group and 19 or more than 19 were in lower group. The number of students in higher group was 53 and in lower group was 56.
- Now responses given by the students for each item were analyzed to check whether an item was correctly responded or not. After this, right responses in upper group (R_U) and right responses in lower group (R_L) were tabulated.

- In order to establish the suitability of a item for the final draft of Mathematics Achievement Test, two important characteristics difficulty value and discrimination power of each item was calculated.
- According to the Difficulty Value and Discrimination for interpreting the quality of an item (Ebel and Frisbie, 1991), the test items were selected or rejected. For the selection of items in Mathematics Achievement Test, the following criteria was considered.

RELIABILITY OF THE MATHEMATICS ACHIEVEMENT TEST

The split half method was used to calculate reliability. Correlation (r) between two sets of the Test was 0.68.Spearman- Brown Formula was used to calculate the reliability coefficient

$$R=2r/1+r$$

The reliability coefficient of the Test was found 0.81.

VALIDITY OF MATHEMATICS ACHIEVEMENT TEST

Mathematics Achievement Test was content and face validated. Although the Achievement in Mathematics Test was prepared with proper specification yet to assurance of the content validity of the test items, the researcher had discussed with four Mathematics School teachers and one Professor of Mathematics in C.C.S. University, Meerut. In the final draft of Achievement in Mathematics Test, their suggestions were kept in the mind.

For the face validity, Mathematic Achievement Test was subjected to expert's evaluation. These experts confirmed that the items had proper ability to measure achievement of Class 8.

FINAL FORM OF ACHIEVEMENT IN MATHEMATICS

The final draft of Achievement in Mathematics Test contained 35 items in total. The final blue print of Achievement in Mathematics Test is given in following table:

Table-2:Blue Print of Mathematics Achievement Test (Final Draft)

Sr. No.	Content	Objectives of Cognitive Domain			Total (100%)
		Knowledge (44%)	Understanding (36%)	Application (20%)	
1.	Triangle	02	04	Nil	06
2.	Quadrilateral	02	02	02	06
3.	Circle	03	Nil	03	06
4.	Cube and Cuboids	04	03	Nil	07
5.	Cylinder	02	02	02	06
6.	Cone	03	02	Nil	05
	Total Items	**16**	**13**	**07**	**36**

Duration of Mathematics Achievement Test was kept 120 minutes. The maximum score for the test was 36 and minimum is 0.

REFERENCES

1. Bloom, Benjamin S. 1956 Ed., Taxonomy of Educational Objectives, David McKay Company, Inc., New York
2. Ebel, R.L. 1972. Essentials of Educational Measurement, Prentice Hall, Englewood Cliffs, New Jersey.
3. Ebel, R.L. and Frisbie, D.A. 1986. Essentials of educational measurement. Englewood Cliffs, NJ: Prentice-Hall.
4. Mehrens, W. A., & Lehmann, I. J. (1987). *Using standardized tests in education*. Longman/Addison Wesley Longman.
5. Osadebe, P. U. (2014). Construction of Economics Achievement Test for Assessment of Students. *World Journal of Education*, *4*(2), 58-64.
6. Rani, R. (2017). Construction and Standardization of Mathematics Achievement Test for IXth Grade Students. *Educational Quest-An International Journal of Education and Applied Social Sciences*, *8*(3), 629-633.
7. Sharma H.L. & Devi Sharmila. 'Construction of an Achievement Test for the students of VIII class in the Subject of Mathematics'. International journal of scientific research (IJSR). 2013, 2(7).

Journal of Socio-Educational & Cultural Research, Vol. 6, No. 13, July-Dec., 2020 ISSN : 2394-2878

कोविड–19 का भारतीय ग्रामीण समाज पर प्रभाव : एक अवलोकन

धर्मेन्द्र कुमार,
शोध छात्र,समाजशास्त्र विभाग,
महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी।
डॉ0राहुल गुप्ता,
असिस्टेंट प्रोफेसर,समाजशास्त्र विभाग,
महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ,वाराणसी।

सारांश

*पूरे विश्व में कोरोनॉ वायरस पहली महामारी नहीं है इससे पहले भी अनेकों महामारियों का दुनिया सामना कर चुकी है। जैसे 1918 का स्पेनियस फ्लू, 1720 में दुनिया में द ग्रेट प्लेग ऑफ मार्सेल फैला था, 1920 मे चिंम्पैजी वायरस से निकला ए.आई.डी.एस. का वायरस, जस्टिनियन प्लेग, द ब्लैक डेथ महामारी 1855 में फैली यह सभी बिमारियाँ/वायरस दुनिया की इतिहास का सबसे घातक बिमारी या महामारी साबित हुई है। 1720,1820,1920 और अब 2020 अब ये इत्तेफाक है या कुछ और पता नही पर पिछले चार सौ सालो में हर सौ साल के बाद एक ऐसी भयानक महामारी जरूर आयी है जिसने पूरी दुनियामें तबाही मचाकर रख दी है। अब इस करोनॉ वायरस ने पूरे विश्व को हिला के रख दिया है। पूरी दुनिया में तबाही मची हुई है। कोविड–19 महामारी ने पिछले सभी महामारियों को पीछे छोड़ दिया है। यह महामारी सबसे घातक एवं भयानक साबित हो रही है। इस शोध प्रपत्र में कोरोनॉ वायरस के द्वारा विश्व के साथ–साथ भारतवर्ष में इसके प्रभावों का अध्ययन किया जायेगा तथा कुछ आकडें भी प्रस्तुत किए जाऐगें इनके लिए समसामयिक पत्रिकाएँ, समाचार पत्र, इंटरनेट इत्यादि का प्रयोग किया जायेगा, अर्थात् यह शोध प्रपत्र द्वितीयक स्रोतों (**Secondry Data**)पर आधारित है।*

बीजशब्द – विश्व स्वास्थ्य संगठन, नोवेल कोरोना वायरस, लॉकडाउन, अर्थव्यवस्था।

दिसम्बर 2019 समस्त विश्व जहाँ अपनी–अपनी अर्थव्यवस्थाओं को बढ़ाने के विषय में बात कर रहे थे एवं तमाम प्रकार की हलचलें दुनियाभर में हो रही थी। वही चीन का एक शहर 'वुहान' जहाँ से एक वायरस का जन्म होता है। यह वायरस प्रकृतिक है या मानव निर्मित अभी तक दुनियाभर में मतभेद बना हुआ है। इस वायरस का नाम नोवेल कोरोनॉ वायरस रखा गया। विश्व स्वास्थ्य संगठन (WHO) द्वारा इसका नाम कोविड–19 रखा गया। कोविड–19 से मतलब है कि दिसम्बर के आखिरी में जब चीन में इसका पहला मामला सामने आया तो इसे कोरोना वायरस फैमिली के विस्तार के रूप में जाना गया। वैज्ञानिकों ने आखिरकार इस विस्तार का नाम 2019–NCOVदिया। नया वायरस होने तथा नोवेल और कोरोनॉ फैमिली से होने पर COVनाम दिया गया। इस तरह कोविड–19 कोरोनॉ वायरस डिजीज –2019 के नाम से जाना जाने लगा। दुनियाभर के वैज्ञानिक इसको चीन के लैब से निकला हुआ एक मानव निर्मित वायरस कह रहें हैं। लेकिन चीन लगातार दावा कर रहा है कि यह वायरस चमगादड़ नामक जीव से मनुष्य में आया है, यह एक

ऐसा वायरस है जो जानलेवा है, जो एक सक्रंमित व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में प्रवेश कर रहा है। विश्व स्वास्थ्य संगठन इसे मानव इतिहास का सबसे खतरनाक वायरस कह रहा हैं। विश्व स्वास्थ्य संगठन ने पूरे विश्व भर में इस वायरस को वैश्विक महामारी घोषित कर दिया हैं।

कोविड–19 के लक्षण –

कोरोना वायरस का सामान्य लक्षण व्यक्ति को साँस लेने में कठिनाई, खाँसी का लगातार आना, बुखार आना, गले में खरास, सर्दी होना इत्यादि बिमारी इस वायरस के सामान्य लक्षण माने जाते हैं। मौजूदा समय में कोरोनॉ वायरस के तीन ही आधिकारिक लक्षण है। –**बुखार, खाँसी, और स्वाद या गंध की पहचान का कम या समाप्त हो जाना।** इसमें से कोई भी लक्षण होने पर व्यक्ति को आईसोलेशन में रहने की सलाह दी जाती है और उसका टेस्ट कराया जाता है। ब्रिटिश रिसर्चरों ने दावा किया है कि बच्चों में दस्त उल्टी और पेट में ऐंठन कोरोनॉ वायरस के लक्षण हो सकतें हैं।

विश्व में प्रभाव एवं भारत की स्थिति –

कोविड–19 या कोरोनॉ वायरस का प्रारम्भिक प्रकोप चीन समेत पूर्वी एशियाई देशों में ज्यादा खतरनाक था। इसमें चीन के साथ–साथ जापान, दक्षिण कोरिया, मंगोलियाँ आदि देशों में इस वायरस का अधिक प्रभाव दिखाई पड़ रहा है। धीरे–धीरे यह महामारी पूरे विश्व को अपने चपेट में लेता गया। फ्रांस, ब्रिटेन, इटली, ब्राजील, अमेरिका, भारत, पाकिस्तान समेत बहुत से देशों में यह वायरस जहर की तरह फैलता गया। अर्थात् यह वायरस आज पूरे विश्व में फैल गया है। कोरोनॉ वायरस के संक्रमण ने दुनियाँभर में लाखों व्यक्तियों को अपने चपेट में ले लिया है। जिसमें कई हजार व्यक्तियों की मृत्यु इसी वायरस के संक्रमण से हुई है। इसके कारण विश्व स्वास्थ्य संगठन ने इसको वैश्विक महामारी घोषित कर दिया। इस संक्रमण का वर्तमान समय में सबसे ज्यादा प्रकोप इटली, अमेरिका, भारत, ब्राजील आदि देशों में रहा है। इस वायरस से विश्व भर में मरने वालों की कुल संख्या में से आधीसंख्या केवल चार से पांच देशों से है। जिसमें इटली, अमेरिका, भारत, फ्रांस, ब्राजील, जापान आदि देश प्रमुख हैं।

ग्रामीण समाज –

भारत देश को गाँवों का देश कहा जाता है भारतीय समाज को मुख्यतः दो भागों में बाँटा गया है। ग्रामीण समाज व नगरीय समाज प्रत्येक मनुष्य इन दोनों में से किसी एक समुदाय में निवास करता है। ग्राम व नगर मानव जीवन के दो पहलू हैं। गाँवों का प्रकृति से प्रत्यक्ष और निकट का सम्पर्क पाया जाता है। जबकि नगरों में कृत्रिमता की प्रधानता होती है, जहाँ मानव एवं प्रकृति के बीच अन्तःक्रिया का रूप अत्यधिक निकट प्रत्यक्ष और गहन है, वह ग्राम है और जहाँ दोनों के बीच सम्बन्ध अप्रत्यक्ष और क्षीण है, वह नगरीय स्थिति है। इन दोनों के पर्यावरणों में पर्याप्त अन्तर है यह पर्यावरण सम्बन्धित अन्तर ही दो भिन्न प्रकार के सामाजिक जीवन को जन्म देता है। ग्रामीण समाज को पुनः दो खण्डों में विभाजित किया गया है – जनजाति समाज एवं कृषक समाज। भारत की दो तिहाई जनसंख्या गाँवों में निवास करती है। ''हेरॉल्ड एफ0ई0पीक के अनुसार ''ग्रामीण समुदाय परस्पर सम्बन्धित व्यक्तियों का वह समूह है जो एक कुटुम्ब से अधिक विस्तृत है और जो कभी नियमित, कभी अनियमित रूप से निकटवर्ती गृहों में या कभी–कभी निकटवर्ती गली में रहते हैं। ये व्यक्ति कृषि योग्य भूमि में सामान्य रूप से खेती करते हैं। और समतल भूमि को आपस में बाटकर

बंजर भूमि को चराने में प्रयोग करते है और इसकी निकटवर्ती सीमाओं तथा अपने समुदाय के अधिकार का दावा करते हैं।'' एक विज्ञान के रूप में ग्रामीण समस्याओं का अध्ययन भले ही बाद की घटना हो, लेकिन भारत की सम्पूर्ण संस्कृति, सामाजिक व्यवस्था एवं सामाजिक मूल्यों में बहुत प्राचीन काल से ही ग्रामीण चिन्तन का सपष्ट प्रभाव झलकता है। ऋग्वेद, महाभारत, स्मृतियों की विभिन्न संहिताओं में ग्रामीण जीवन का विशद् विवेचन किया गया है।

भारत में कोविड–19

भारत में कोरोना वायरस का आगमन जनवरी, फरवरी, 2020 से माना जा रहा है। इस वायरस ने भारत के दोनों समाजों– ग्रामीण समाज एवं नगरीय समाज को अघात पहुँचाया है। कोविड–19 का सर्वप्रथमप्रभाव नगरीय समाज पर पड़ा इसके उपरान्त ग्रामीण समाज पर। भारत में अधिकांश ग्रामीण जनसंख्या क्षैतिज रोजगार पर निर्भर रहता है। किंतु आज भी भारतीय ग्रामीण जनसंख्या में संरचनात्मक बेरोजगारी विद्यमान है। गाँव में सभी लोगों को रोजगार नहीं मिल पाता है, न ही ग्रामीण क्षेत्रों में उद्योग–धंधे होते है जो सीधे रोजगार उपलब्ध करा सकें। ग्रामीणों को बेबश होकर नगरो एवं महानगरों की ओर बढ़ना पड़ता है क्योंकि अधिकांश रोजगार नगरो एवं महानगरों में ही उपलब्ध होता है। यही मुख्य कारण भी है कि भारत के ग्रामीण समाज में कोविड–19 प्रवेश कर गया है। अर्थात् रोजगार के तलाश में भारत के ग्रामीण क्षेत्र की आधी से ज्यादा जनसंख्या नगरों महानगरों में जाकर काम धंधे करते है, और इस वैश्विक महामारी के उपरान्त अर्थात् नगरों में कोरोनॉ वायरस फैलने के कारण लोग अपने – अपने गाँव की ओर वापस होने लगे, इन्हीं कारणों से कोरोनॉ वायरस भारत के लगभग प्रत्येक ग्रामीण क्षेत्रों में फैलता गया तथा आज पूरा भारत देश इस कोरोना वायरस की चपेट में फंसा हुआ है। कोविड–19 का भारतीय ग्रामीण समाज में नकारात्मक एवं कुछ हद तक साकारात्मक दोनों प्रकार के प्रभाव दिखाई पड़ते हैं। अगर लॉकडाउन में सबसे ज्यादा कोई परेशान हुआ है तो वो असंगठित क्षेत्रों में काम करने वाली ग्रामीण जनसंख्या है। आज का आलम ये है कि पूरा भारत देश कोरोना वायरस से जूझ रहा है। चाहें वो ग्रामीण क्षेत्र हो चाहें नगरीय क्षेत्र। भारत में आज लगभग करोड़ो लोग दो वक्त की रोटी का इंतजाम नहीं कर पा रहें हैं। यहॉ की जो जनता है रोज कुआँ खोदती है और रोज पानी पीती है अर्थात् रोज कमाने व रोज खाने वाली जनता है। कोरोनॉ काल में सबसे ज्यादा समस्याओं का समाना इन्हीं को करना पड़ रहा है।

भारतीय ग्रामीण समाज पर कोविड–19 का प्रभाव –

भारतीय ग्रामीण समाज में कोई भी महामारी या समस्या उत्पन्न होने पर समाज के सभी पक्षों पर कुछ न कुछ प्रभाव देखने को मिलता है। इसी प्रकार कोरोनॉ महामारी के प्रकोप का भी भारतीय समाज पर साकारात्मक एवं नाकारात्मक प्रभाव देखने को मिल रहा है।

नाकारात्मक प्रभाव –

वर्तमान समय में देश में कोरोनॉ महामारी अपने चरम सीमा पर है तथा यह हमारी अर्थव्यवस्था को बुरी तरह प्रभावित कर रही है लेकिन हम तमाम न्यूज चैनलों और समाचार पत्रों की बात करे तो लगभग हर कोई कोरोनॉ के शहरी प्रभावों की बात कर रहा है न कि ग्रामीण प्रभावों पर जबकि हमारे देश की लगभग 69 प्रतिशत आबादी ग्रामीण क्षेत्र में निवास करती है और यह देश की अर्थव्यवस्था और उत्पादन की श्रेणियों में अहम भूमिका निभाती है।

कोरोना महामारी के कारण लगाये गये पूर्ण बन्दी की वजह से सभी औद्योगिक संस्थान और उत्पादक यंत्रों को बन्द करना पड़ा जिससे कि करोड़ो की संख्या में प्रवासी मजदूरों के हाथों से

काम–काज छिन गया और इन्हें वापस अपने गाँव लौटना पड़ा और सम्पूर्ण बन्दी में जीवकोपार्जन का कोई अन्य सहारा न होने के कारण प्रवासी मजदूरों को पेट भरने के लिए बड़ी मुसीबतों का सामना करना पड़ रहा है।

सम्पूर्ण लॉकडाउन के कारण जब परिवहन बन्द हो गये तो कई सारे किसान अपने खेतों में तैयार सब्जियों और फलों को मंडियों तथा बाजारों तक नही पहुँचा सके और उन्हें अपने उत्पादन में भारी नुकसान उठाना पड़ा, जिससे कुछ किसान द्वारा मजबूरी में आत्महत्या जैसे कदम उठाने की खबरें भी सामने आयीं। जिससे उनकी बद्तर आर्थिक स्थिति का अन्दाजा लगाया जा सकता है। किसानों को अपनी फसलों को नुकसान होने से बचाने के लिए बहुत कम दामों में बेचना पड़ा।

कोविड–19 महामारी में लागू हुए सम्पूर्ण बन्दी के वजह से सभी बन्दरगाहों को बन्द करना पड़ा जिससे निर्यात पूरी तरह बन्द हो गये। भारत देश फसलों का एक प्रमुख निर्यातक देश रहा है। जिससे भारतीय किसानों को अपनी फसल की अच्छी कीमत मिल जाती है। 'APEDA' के अनुसार 2018–19 में भारत का कुल कृषि निर्यात 685 बिलियन का था। किन्तु बन्दरगाहों के बन्द होने के करण निर्यात बुरी तरह प्रभावित हुआ है जिसका सीधा असर किसानों पर पड़ा दिखाई देता है।

सम्पूर्ण बन्दी की वजह से आवश्यक वस्तुओं की दुकानों के अलावा लगभग सभी दुकानों पर ताला लगा दिया गया। जिससे कई सारे छोटें दुकानदार भुखमरी के कगार पर पहुँच गये। दुग्ध उत्पाद से जुड़े व्यापारी जो की इन उत्पादों का ज्यादा दिन तक भण्डारण नहीं कर सकते है उनके उत्पाद पूर्ण बन्दी के कारण से ही घर में पड़े–पड़े खराब हो गये तथा इतने आर्थिक नुकसान की वजह से वो पशुओं के लिए चारा जुटाने में भी असमर्थ रहें।

मजदूर वर्ग पूर्ण बन्दी में भुखमरी से मजबूर होकर कोरोनॉ का डर भूलकर तथा परिवहन बन्द होने की स्थिति में उन्होंने पैदल ही शहरों से अपने–अपने गाँवों की ओर पलायन करना प्रारम्भ कर दिया। कोविड–19 खासकर भारत में इन दो वर्गों पर बहुत घातक प्रहार किया है, जिससे उन्हें बहुत ज्यादा समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। प्रवासी भारतीय लोग जो कमाने व परिवार के भरण–पोषण करने की लालसा में दूसरे राज्यों में गये थे अचानक लॉकडाउन होने से उनका पूरा रोजगार बन्द हो गया और वो बेरोजगार हो गयें।

एकतरफ जहाँ पूरे विश्व में कोरोनॉ वायरस का कहर था वहीं भारत में कोरोनॉ के साथ–साथ गरीबी का भी कहर बढ़ रहा था। भारत की कुल जनसंख्या विश्व की दूसरी सबसे बड़ी जनसंख्या है। भारत के पास इतने आधुनिक सुविधा वाली व्यवस्था नही है, जैसा विकसित देशों के लोगों को मिलता है। दूसरी तरफ वो भीड़ थी जो ज्यादा पढ़ी लिखी नही थी, उनको भीड़ में एक आवाज देने के बाद भेड़ों की तरह व्यवहार करती है। ठीक यही हाल भारत की ग्रामीण जनता, प्रवासी मजदूर, मध्यम वर्ग का था, जिसका प्रमुख कारण भारत सरकार द्वारा अचानक लगाया गया सम्पूर्ण बन्दी था। अगर सरकार लोगों को उनके घरों, स्थानों पर पहुँचाने की व्यवस्था करने के बाद सम्पूर्ण लॉकडाउन लगाती तो लगभग ग्रामीण लोगों पर कम से कम प्रभाव पड़ता परन्तु असफल लॉकडाउन ने न जाने कितने घरों को उजाड़ दिया।सरकार ने जो राहत पैकेज दिया उसमें केवल 1000/– रु0 प्रतिमाह वह भी संगठित क्षेत्र में काम करने वाले लोगों के खाते में आया जबकि असंगठितक्षेत्रों में काम करने वाले लोगोंके विषय में बात ही नही की।

कोरोनॉ वायरस महामारी के कारण भारत का विकास पिछले 20 से 30 वर्ष पीछे चला गया है और सबसे ज्यादा प्रभाव भारत के ग्रामीण जीवनशैली पर पड़ा है। अतः कोविड–19 महामारी का

असर अन्य देशों की तुलना में भारत को अधिक प्रभावित किया है। जिससे भारतीय अर्थव्यवस्था विश्व के समस्त अर्थव्यवस्था के तुलना में बहुत नीचे गिर गयी।

सकारात्मक प्रभाव –

कोविड–19 के कारण जहाँ अत्याधिक नकारात्मक प्रभाव पड़े हैं वहीं इसके सकारात्मक प्रभाव भी समाज में देखने को मिल रहें हैं ,उनमें से कुछ निम्नलिखित है–

- पहले जहाँ लोग ठीक से साफ–सफाई नही रखते थे लेकिन आज कोरोनॉ वायरस के कारण लोग उचित ढ़ंग से साफ–सफाई पर विशेष ध्यान दे रहें हैं, अर्थात कोविड–19 की वजह से आज लोग स्वच्छता पर विशेष ध्यान देने लगे हैं।
- इस भाग दौड़ की जिन्दगी में अपने परिवार व रिश्तेदारों को समय नही दे पा रहे थे किन्तु कोरोनॉ वायरस के महामारी के कारण लोग अपने परिवार को पूरा समय दे पाये हैं, अर्थात कोविड–19 के कारण सम्बन्धों में मधुरता देखने को मिल रही है।
- कोविड–19 के कारण ही आज पार्यावरण, प्राकृतिक वस्तुएँ, वनस्पतियों, जीव–जन्तुओं के जीवन पर सकारात्मक प्रभाव दिखाई पड़ रहा है।
- ग्रामीण क्षेत्र में लोग अपने मातृभूमि से जुड़े और भाग दौड़ वाली जिन्दगी को कुछ समय के लिए भूलकर अपने परिवार के साथ खेती करने का लुत्फ उठाया और बिना खाद की सब्जियाँ उगाई तथा उनको परिवार में बैठने का वक्त मिला।
- इस संक्रमण काल में भारत सरकार द्वारा चलाई गई महत्वकांक्षी योजना, आत्मनिर्भर भारत योजना चलाई गयी। इस योजना का मुख्य उद्देश्य ग्रामीण विकास जो किसान, व्यापारी, मजदूर अपने–अपने कार्यों में निपुण हैं, उन्हें प्रदर्शित करना है। हम बाकि दूसरे देशों सेवस्तुओं का कम से कम आयात करें तथा ज्यादातर का अपने देश, अपने शहर व अपने गाँवों में निर्माण करें।
- कोरोनॉ संक्रमण काल में सकल घरेलु उत्पाद में केवल कृषि क्षेत्र का उत्पादन सकारात्मक था। इसमें 3.4 प्रतिशत वृद्धि यह दर्शाता है कि कोरोनॉ संक्रमण काल में शहरो, महानगरों से वापस आकर लोग अपनी आजीविका को चलाने के लिए कृषि क्षेत्रों से जुड़े एवं खेती–बाड़ी की जिससे उनका तथा समस्त भारत का सकारात्मक विकास हुआ है।

उपाय –

कोरोनॉ/कोविड–19 के प्रसार एवं इसके आगे के प्रकोप को नियंत्रित करने के लिए लागू किये गये अनियोजित लॉकडाउन ने अनौपचारिक क्षेत्र में काम करने वाले लाखों लोगों को आर्थिक संकट में खड़ा कर दिया है। इसमें न केवल दिहाड़ी मजदूर हैं बल्कि अनियमित अर्थव्यवस्था में काम करने वाले मजदूर भी हैं। रोजगार, बेरोजगारी सर्वेक्षण 2015–16 के अनुसार देश के कुल कामगारों का 80 प्रतिशत से अधिक का हिस्सा अनौपचारिक क्षेत्र में कार्यरत है। इसमें से एक तिहाई आकस्मिक मजदूर है। इस स्थिति में निपटने के लिए तुरन्त क्या किया जा सकता है इस पर कुछ सुझाव हैं –

- भारत समेत पूरे विश्व में नकद हस्तांरण को पहले कदम के रूप में अपनाने की पहल की जा रही है।

- राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम लागू होने के बाद सर्वाधिक वितरण प्रणाली में भारतीय जनसंख्या का दो तिहाई हिस्सा शामिल है। सहायता प्रदान करने के लिए इस व्यापक नेटवर्क का तुरन्त उपयोग किया जाना चाहिए। क्योंकि जमाखोरी बड़े पैमाने पर होती है तो महंगाई बढ़ सकती है और नकद का मूल्य कम हो सकता है।
- सभी राज्यों में पुलिस प्रशासन को निर्देश दिये जाने चाहिए कि वे प्रवासी श्रमिकों का उत्पीड़न, उनसे मार–पीट न करें तथा प्रवासी मजदूरों के आश्रय की व्यवस्था की जानी चाहिए।
- ग्रामीण को स्व–अलगाव के महत्व के बारे में तथा सामाजिक दूरी के महत्व के बारे में शिक्षित किया जाना चाहिए तथा कोरोना के लक्षणों ,प्रसार व सावधानियों के बारे में गाँव स्तर पर कार्यकर्ताओं से व्यापक स्तर पर प्रचार के लिए कहा जाना चाहिए।
- जहाँ भी आवश्यक हो सरकार निजी स्वास्थ्य सेवाओं के अस्थायी राष्ट्रीयकरण पर विचार कर सकती है तथा कोरोनॉ के मुफ्त जाँच पर जोर दिया जाना चाहिए जिससे प्रवासी मजदूर, ग्रामीणों एवं किसानों को जाँच में सहूलियत मिल सके।
- विश्व स्वास्थ्य संगठन के निर्देशों के तहत इस वायरस से बचने के लिए अपने नाँक, मुँह को फेस मास्क से ढ़के रहें। क्योंकि ऐसा माना जा रहा है कि यह वायरस वायु में पूरी तरह फैल गया है। कभी भी किसी स्थान से आने के तुरन्त बाद अपने हाथों को साबुन या सेनेटाइजर से साफ करें। भीड़– भाड़ वाले स्थानों पर जाने से बचे एवं दो गज की दूरी बनाकर बात–चीत करें।
- कोरोनॉ संक्रमण काल में भारत सरकार ने ग्रामीण जनसंख्या के लिए तीन महिने के लिए एल0पी0जी0 गैस सिलेंडर व अनाज मुफ्त में ग्रामीण जनसंख्या को वितरण किया गया। मनरेगा के माध्यम से, तथा ग्रामीण किसान सम्मान निधि के माध्यम से सहयोग दिया गया।

कोरोनॉ संक्रमण काल में भारत वर्ष के लगभग सभी राज्यों में स्थिति की भयावहता का अन्दाजा निम्नलिखित सारणी में दिए गए आकडो से लगाया जा सकता है–

भारत मे राज्यवार कोरोनॉ के प्रसार से सम्बन्धित आकडें (26 जून, 2020)

राज्य	कुल मामले	ठीक हुए	मौतें/मृत्यु
अंडमान निकोबार	59	43	00
आन्ध्र प्रदेश	10884	4988	136
अरूणांचल प्रदेश	160	38	01
असम	6321	4033	09
बिहार	8473	6441	57
चंडीगढ़	423	229	06
छत्तीसगढ़	2452	1755	12
दादर एवं नगर	155	32	00

हवेली / दमन एवं दीव			
दिल्ली	73780	44765	2429
गोवा	995	335	02
गुजरात	29520	21498	1753
हरियाणा	12463	7380	198
हिमांचल प्रदेश	839	477	09
जम्मू–कश्मीर	6549	3967	90
झारखंड	2262	1605	12
कर्नाटक	10560	6670	170
केरल	3726	1943	22
लद्दाख	941	358	01
मध्य प्रदेश	12596	9619	542
महाराष्ट्र	147741	77453	6931
मणिपुर	1056	354	00
मेघालय	46	42	01
मिजोरम	145	30	00
नागालैण्ड	ष355	160	00
ओड़िसा	5962	4291	17
पुडुचेरी	502	187	09
पंजाब	4769	3192	120
राजस्थान	16296	12840	379
सिक्किम	85	39	00
तमिलनाडु	70977	39999	911
तेलांगाना	11364	4688	230
त्रिपुरा	1290	1019	01
उत्तराखण्ड	2691	1758	36
उत्तर प्रदेश	20193	13119	611
पश्चिम बंगाल	15648	10190	606
कुल योग	490401	285637	15301

उपर्युक्त आकडों की विवेचना से स्पष्ट होता है कि कोविड–19 / कोरोनॉ वायरस महामारी एक भयानक वायरस है जो पूरे विश्वभर में फैल चुका है। इस वायरस ने भारतवर्ष में भी मौत का तांडव मचा रखा है। पूरा विश्व वर्तमान में इससे पूर्णतया प्रभावित है। जहाँ इस वायरस के नकारात्मक प्रभाव अधिक दिखाई पड़ते हैं वही इसके कुछ सकारात्मक प्रभाव भी देखने को मिले हैं। नगरीय समाज के साथ – साथ ही ग्रामीण समाज पर भी इसका प्रभाव दिखाई दे रहा है , इस वायरस से बचने के अनेको उपाय भी हैं जो इस शोध प्रपत्र में अंकित किया गया है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. अग्रवाल, डॉ0 अमित, 2009, भारत में ग्रामीण समाज, विवेक प्रकाशन, जवाहर नगर, दिल्ली–7।
2. सिंह, डॉ0 वी0एन0 एवं सिंह, डॉ0 जन्मेजय, 2015, ग्रामीण समाजशास्त्र, विवेक प्रकाशन, जवाहर नगर, दिल्ली–7।
3. कराले, गंगाधर, 2008 ग्रामीण विकास के लिए समन्वित प्रयास, कॉन्सेप्ट पब्लिशिंग कम्पनी, नई दिल्ली–110059।
4. WWW.NAVBHARATTIMES.COM
5. https://epaper.livehindustan.com/
6. ARTICLESHOW/76635836.COMS

Education for Peace and Harmony

Dr. Anshu Tripathi
Associate Professor
K.S.Saket P.G.College, Ayodhya

Abstract

Peace and harmony is the basic need of any nation. Only if a nation enjoys peace and harmony would it be able to prosper. If there is peace and harmony among the people of the country then only it can develop as a nation. The people and the government itself have to make enough endeavors to create harmonious and peaceful climate among the various societies, castes, creeds, races and religions. Education is an everlasting process of human building. It includes knowledge, culture and wisdom. Education is an important dimension for building up peace and harmony. Through tolerance, justice, intercultural understanding and civic responsibility. Education for peace and harmony is a remedial measure to protect children from falling into the web of violence prevalent in the society. It tries to inculcate higher human and social values in the mind of the child. In essence, it attempts to develop a set of behavioral skills necessary for peaceful living and peace building from which the whole humanity will be benefitted.

Key words : Remedial measure, Harmonious, Everlasting.

Education aims at all round development of the individual. But unless he is at peace within himself and with the external world or his environment, he can not achieve progress in various fields. According to Swami Vivekanand., "Education is the manifestation of perfection already in man." The individual has the potentiality to make progress and go ahead. He is endowed with different qualities of hand, head and heart.

He is to live in a peaceful atmosphere for utilizing these qualities and express himself through various activities. Education is the powerful means of self- Expression on and self realization. That is why, Gandhiji means education as "an all round drawing out of the best in the child and man, body, mind and spirit." He is the celebrated apostle of peace and for him peace is not merely absence of war. Rather for him, peace is creative, positive and cooperative.

In the modern shrinking world one can not keep himself aloof from others. All are inter-related and share the same destiny-sorrows and sufferings, happiness and prosperity. Peace is the felt-need of the hour. Peace is the cherished goal of mankind. It cannot be achieved by peaceful measures and cannot be enjoyed by a group of people or a particular country exclusive of others. It can be realized only through mutual understanding, international harmony and world brotherhood. Education should promote international understanding, fellow feeling and brotherhood so that peace and harmony can be ensured and stabilized

on the earth. It must enable the human being to be in peace and harmony irrespective of caste, creed, colour and geographical location.

Education has been pursuing peace and harmony for the mankind through ages. It is not a modern phenomenon or unique only to the modern age of science and technology. As for back as bout five thousand years ago the Rigveda has ushered in a new era of enlightment and one worldliness. The vedantic ideas of 'Brahman' speaks of "oneness of the mankind." It sings of mutal coexistence and eternal peace and harmony. It dreams of "the fatherhood of God". And "the brotherhood of man." The lofty ideal of "Vasudhaiv Kutumbakam" meaning the whole world as a unified family has been enshrined in the Vedic as well as puranic literature and philosophy of our country.

The Indian heritage has been based on universal brotherhood, nutual harmony and external peace. It has been enriched and reverberated through ages in the Indian art and literature, religion and culture. The most effective way of avoiding inter-human conflicts is to maintain and improve inter-personal relations, which is the result of "man being at peace with himself." Therefore peace education will achieve lasting success by leading man towards peace with himself. The man needs homeostasis, self realization, self identity and freedom from contradictions. That is why education for peace is to a great extent education for self education. For being at peace within himself is usually the result of what he has made of himself, his own image, his life-style and his values as well as vision of life.

Peace education is not merely aimed at avoiding war. It is a means of developing security, harmony and fellow feeling. The development of democracy is required for peace. It encourages tolerance, friendship and co-operation between nations and individuals. It also promotes expansion of education as well as qualitative improvement. The state authorities cannot sweep the people who are well informed and well balanced, by their emotional appeal for carrying out any evil designs that can destroy peace or create conflicts.

It is the responsibility of education that can make the man aware of his strengths and weaknesses, possibilities and limitations. He can teach him about the creation and preservation of peaceful modes of existence and train him in the rational behavior, scientific attitude and peaceful disposition. The properly educated man must be at peace with himself as well as with environment. He must have personal integrity and prefound interest in and strong aspiration for peace. "Love thy neighbour" must be the living spirit and universal brotherhood be the guiding principal of all activities.

Education is taken to be the most potent panacea for all social ills and an effective instrument for bringing about national prosperity and international harmony. So many scientific inventions and discoveries have not yet assured human welfare and peace in the world. The world has progressed amazingly in this field during the last two centuries. There has been explosion of knowledge in all subjects. For promotion of peace and

harmony education plays a very significant role. Education only can make a man realize what activities and behavior are expected of him as a human being.

Education has been always supposed to promote peace and harmony all over the world. The universal human values are always focused on by education in schools and colleges. Peace and harmony are two district values of these universal human values that need to be developed among the human kind through education. Today both these concepts are given less importance in education and its curriculum Today's world is full of conflicts, insecurities. Violence, inharmonious conduct based on political, racial, religious and ethnic factors which make a negative impact on the humanity. In the contemporary time, the major aim of eduation should be to help people to develop themselves as global citizens who can make continous efforts for building one peaceful and harmonious world. These is a needs of learning to live together with peace and harmony in today's world and eduation is the only tool that can approach to this aim.

Peace and harmony are the significant factors for any nation to be developed in an appropriate way. If there is peace and harmony among the people of the country, then only it can develop as a nation. Education for peace to nurture ethical development, inculcating the values, attitudes and skills required for living in harmony with one self and with others. Social Justice is an important aspect of education for peace. The concern for equality and social Justice, which refers to practicing non-exploitation towards the have-nots, the poor and the underprivileged and creating a non-violent social system, is the hallmark of eduation for peace. Peace cannot prevail if the rights of the individual are violated basic to human rights are the values of non-discrimination and equality, which contribute to building a culture of peace in society. Education for peace seeks to nurture the knowledge, skills, attitudes and values that comprise a culture of peace. Education for peace is holistic. Thus the proper inculcation of human value like peace and harmony and development of character is the responsibility of schools. If implemented with vigor and vision. Education for peace can make learning a joyful and meaningful experience. Education for peace seeks to nurture ethical development including the values, attitudes and skills required for living in harmony with oneself and with others, including nature.

The role of education of education for peace and harmony in the age of globalization is thus very necessary to be understood and implemented throughly.

References :

- Galtung J. (1975) Essays in peace education.
- Harris I. & Synott J. (2002) Peace Education for a new century social alternatives 21(1)
- Kevin Kester (2010) An article on Education for peace : Content, form and Structure - mobilizing youth for civic engagement. Peace and conflict Review.
- Reardon B. (2001) Education for a culture of peace in a gender perspective paris UNESCO

Position of Indian Women : From Ancient to Modern Period

Dr. BhartiRastogi
Asst. Professor, Dept. of Sociology
Mahatma Gandhi Kashi Vidyapith, Varanasi,U.P.

Abstract

In India, women are considered inferior in the family and society with male domination, discrimination, exploitation, deprivation and different forms of atrocities including domestic violence. Gender bias, in its various forms, prevents large proportion of the women from obtaining education, health care and employment. These practices causing lower position of women in the society have been continuing since the ages and are the product of the social and cultural history of India. These practices continued in the past for the centuries and gradually became gender ideologies. Major objective of the present paper is to analyse historical features relating to status of the women and gender based discrimination and inequality from Vedic and Rigvedic period to modern times in India.

Key Words: Gender, Society, Inequality, Discrimination

History of Women's Position

(i) Vedic and Rig Vedic Periods

In ancient India, according to scriptures, legends and folklore, women were accorded a high and honoured place. During the Vedic and Rig Vedic periods (approximately 4000-1000 BC), women held equal status with that of men (Radha Devi,1993, Kuppuswami,1975, Chaudhari,1978). The Rigveda refers to the absence of child marriage during that period. Young girls led free lives and had a major voice in the selection of their husbands. Women could choose their husbands through the Swayamvara Ceremony in which grooms assembled at the bride's house and the bride selected her spouse.Women enjoyed freedom of movement and could attend fairs, tournaments and other public functions equally with men.Young maidens after completing their education as *brahmcharinis*were choosing husbands. There were neither pre-puberty marriages nor even early marriages. According to Dr. Radhakrishnan "The Vedic rituals assume that the bride is a grown up women, mature in body, mind and ready to live the married life".

The Rigveda enjoins husband and wife to be equal partners in marriage. The wife enjoyed with her husband full religious rights and regularly participated in religious ceremonies with him. The Vedic society was patriarchal but women enjoyed a position of respect and reverence. The Plethora of Goddesses in ancient period was created to instil respect for women. Ardhnarishwar (God is half man and half women) was highly

worshiped. The norms, traditions and ideals laid down by Rigveda were carried on and followed up to the times of the Upnishadstoo. Even during the time of Kautilya also known as Chanakya (324-300 B.C.) the women lived with dignity (Guru Swami and Basavaraju, 2016). With the changing time, the social status of women was undermined, many restrictions were imposed on them and as discussed in the following analysis women were deprived of many basic human rights.

(ii) Period of Manu and Smritis

The degradation of women started in the later Vedic period approximately 300 BC. With the advent of Manu (presumably a pseudonym for the earliest complier of the Hindu moral code), shortly before the time of Christ, women lost their equality with men and were relegated to an inferior status (CIRTPC-Central Institute of Research and Training in Public Corporation, 1969). Pre- puberty marriage, polygamy, voluntary Sati and ban against widow remarriage all tragically found acceptance in Manu's Smriti. Manu has been considered to be the most reactionary anti-feminist in our history. Marriage and domestic life became compulsory for women and unquestioning devotion to husband was their only duty. Since women and property were bracketed together in several references in the epics, Smrities and Puranas, women became to be regarded as a sort of property. She could be given away or loaned as any item of property. Child-bearing and child rearing along-with domestic work were their main duties. The life of a widow was very troublesome. If anyone goes out on some work, and faces a widow, it was considered as unauspicious and bad sign. Widows were generally not invited to witness any social function such as marriage and naming of child etc. During that period son preference was very strong. According to AitareyaBrahmana, a daughter has been described as a source of misery. In this period women were bracketed with the Sudras and were denied the right to study the Vedas, to Utter Vedic Mantras and to perform Vedic rights. Women have been victims of ill-treatment, humiliation, torture and exploitation. Although, we boast of an ancient culture and swear by values which are indisputably admirable, but that period was followed by the customs and traditions leading to pitiable conditions of the females. In this later Vedic period there was in actual practice a great deal of conservative thinking supporting inferior position, roles and activities of the women. The golden age of Guptas (Samudragupta : 335-375 A.D. and Chandra Gupta II or Chandra Gupta Vikramaditya : 375-414 A.D.) had been dark age for women. The Gupta Kings strictly practiced the Brahminical law by upholding certain rules for women like Sati and celibacy of widows. The period was of suffering, suppression and enslavement for women.Shankaracharya of Kerala proclaimed that a woman is a gate to hell and she is poison in the disguise of vector (Guru Swami and Basavaraju, 2016). Manu exhorted men not to believe women as they are untrustworthy and undependable (Uplaonkar, 2008). It was emphasised in Hindu religion that keeping a daughter unmarried beyond the age of puberty is tantamount to

committing a sin on the part of the father (Bhagat and Unisa, 1991). The Hindu Ideology indicates that a woman is not fit to be independent (Gandotra and Pandey, 1979). At every stage of life she is to be under the domination of some male, eitherher father, husband or son. This adversely affected the autonomy and status of women.

(iii) Muslim Rule

Greater decline in the status of women in Indian society begins with the Muslim rule (After 1000 A.D.) that lasted some eight hundred years. The Muslim Invasion and Muslim rule resulted in wars, political instability, social chaos and economic stagnation. The incidents of abduction, rape, murder and atrocities against women were common in the society which led to the intensification of child marriage, purdah and other social evils. The sociologists trace child marriage back to foreign invasions in India in the beginning of Muslim Rule during which the invaders were said to have carried away young girls as war booty, prompting local communities to marry their daughters at very early ages.Customs of Sati, child marriage and purdah became morestrict.MaulanaMaududi stated that veil was not devised and adopted after the day of the Prophet but it was indeed devised by the Quran itself and established by the Holy Prophet himself as a social custom (Shah,1986). Islamic prescriptions with regard to the rights of women to education, property, approval of marital partner, and the like were neither institutionalised nor generally granted. Historically, the basic role of Muslim women had been that of mother and home maker. Muslim girls were not encouraged to get an education since formal schooling was held in suspicion because of its western and colonial bias leading to bad character. These cultural aspects also adversely affected the education of Hindu girls and status of Hindu women in India. During Muslim period the women of India had lost their freedom, their status and almost all their rights (Chandrasekhar,1969).

(iv)British Period

When the British established their political hegemony in India, the condition under which women lived and endured were indeed harsh, pitiable and depressing. The British adopted a foreigner's stand of neutrality towards Indian social and religious practices and did not want to interfere with indigenous cultural mores. In fact their concerns were markets and profits and not the reforms.

It was mainly during the 19^{th} centurythat the status of Indian women started changing for the better with the reform movement undertaken by enlightened thinkers and leaders of Indian society like Raja Rammohan Roy and Mahatma Gandhi. Though initially all the leaders were men, gradually women like Mrs Annie Besant, Smt. Sarojini Naidu, Kamala deviChattopadhyay, Mrs. Nellie Sengupta, and DurgabaiDeshmukh etc. actively participated in the freedom movement and elevation of the status of women in India. Both Mrs. Annie Besant and Mrs Sarojini Naidu were presidents of the Indian National Congress before independence. In 1917, the Indian National Congress at its Calcutta

session, presided over by Mrs Besant, adopted a resolution in favour of women's franchise. The British Parliament decided that it was for Indians to decide whether their women should have the right to vote. The franchise, however, was based mainly on property qualifications which were the same for men and women. Under the existing laws of inheritance, a large majority of women never owned property and so very few had the requisite qualification. This is shown by the fact that between 1921 and 1933 only 315,651 women had the right to vote as against 6.8 million men (CIRTPC, 1969).

During the British period, the education of women was increasingly neglected. From the 10thcentury onwards, with successive foreign invasions, it became insecure to send the girls to school. With the pioneering efforts of such dedicated educationists and social reformers as Ishwar Chandra Vidyasagar, the need for women to receive modern education was accepted.

Before independence there was discrimination against women in the matter of pay, women receiving always less than men. Nor was there equality of opportunity in employment. Women were debarred from appearing for civil services and other competitive examinations conducted by the government. The following services had been closed for women under rules made by the Government of India: the Indian civil, medical, forest, police, the audit and account services, the railways and aviation. Equal pay for equal work was unknown and in the liberal professions like teaching and medicine, the grades given to women were very much lower than that for men even when they had identical qualifications. It was because of the stereotype attached that women cannot handle their professional and technical jobs efficiently. We find that during the British period also the traditions, customs and cultural values favouring inferior position, roles and activities of the women continued.

(v) Post- Independent India

India achieved independence in 1947 and constitution of the country, proclaimed on the 26th January 1950, provided equal rights to women with men. India tried, by and large, to bring women of the country to a level of equality with men, ending age-old prejudice and discrimination based on custom, religion, traditions and sex. The Constitution of India Part III dealing with "Fundamental Rights" spells out prohibition of discrimination on grounds of religion, race, caste, sex and place of birth or any of them. Article 16 assumes equality of opportunity in matters of public employment without reference to sex. Efforts were made to save and educate girls. It is heartening to note that our constitution grants our women right of adult franchise equal with men.

Parliament passed various legislations to safeguard Constitutional Rights to women. These legislative measures include : The Hindu Marriage Act (1955), The Hindu Succession Act (1971), Equal Remuneration Act (1976), Child Marriage Restraint Act (1976), Immoral Trafficking-Prevention Act (1986), Dowry Prohibition Act, 1961, modification of Maternity Benefit Act and Pre-natal Diagnostic technique (Regulation and

prevention of measure) Act (1994) etc. Apart from these, various welfare measures have been taken up by Government from time to time to empower the women. For example these measures include 'MahilaSamriddhiYojana (1993), The RashtriyaMahilaKosh (1992-93), The PM MatraVandanaYojana, BetiBachaoBetiPadhao Programme and SukannyaSamridhiYojana etc. A separate department of women and child development was set up at the centre in 1985 to give a distinct identity and provide a nodal point on matters relating to women's development. National Commission on Women was created by an Act of Parliament in 1992. Besides these, India has also ratified various International Conventions and human rights.

Despite above mentioned measures adopted by the government women of India are still one of the most powerless and marginalised sections of the society. Women are largely unaware of the fact that the state has made laws for the protection of their rights. Most of the women who are victims of violence or domestic violence do not know legal measures or not aware of how to use such laws. Even after seven decades of Indian independence, women have to face discrimination, humiliation, atrocities and the violence. The domestic violence against women is still widely prevalent in the society. During the post-independence period of the country, the female literacy has sufficiently increased (from 8% in 1951 to 65% in 2011) and proportion of the females in employment (work participation rate) has also risen (from 22.3% in 1991 to 25.5% in 2011) as per census 2011.

Regarding work participation, it may be mentioned that majority of the females work in inferior jobs as construction workers, maid servants vegetable and fruit sellers and unskilled production workers etc. in low paid informal and unorganised private sector. The gender norms and subordination of the women continued under the patriarchal system and household roles etc. are still governed by centuries old traditions and customs relating to degradation of women. Even if women earn income their responsibilities towards household chores as associated with traditional social values remain unchanged. Discrimination against women in various spheres of life grossly affects their physical and mental health. This discrimination begins right from birth, in fact these days even before birth, when efforts are made to abort the female foetus determined by modern technology. Female foeticide and female infanticide are widely spread in the country (Guru Swami and C. Basavaraju, 2016). The life and health of the girl child are threatened from the time she arrives in this world, mostly unwanted, largely uncared for and soon to be exploited in different ways. Women are frequently tortured because of insufficient dowry and sometimes such tortures are so unbearable that women commit suicide. This has adverse effect on sex ratio (Number of females over 1000 males). The female foeticide/infanticide are still illegally prevalent in the country resulting in declining sex ratio. The census of India shows that sex ratio was 972 in 1901 which declined to 946 in 1951 and further reduced to 940 in 2011.

Conclusion

The historical facts presented in the paper demonstrate that after Vedic period, women in India were neglected and considered inferior in the family and society with male dominance, discrimination, exploitation, deprivation and different forms of atrocities including domestic violence. In India, gender bias with degradation and oppression of women continued in the past for the centuries, particularly since 300 B.C. (Later Vedic period) and gradually become gender ideologies.Such gender ideologies became part of the culture and are so deep-rooted and firmly associated with attitudes of the people towards women that situations relating to discrimination, oppression, degradation and domestic violence etc. are largely accepted by the women themselves. In spite of passing and coming into force of the various Acts and Rules, and welfare measures, the women are still discriminated, oppressed and subjected to inequalities and indignities. The analysis shows that one of the major reasons for degradation, discrimination, deprivation and exploitation of women has been historical and cultural base of the country.

Intensive efforts are needed by the government, social workers, women's organisations, media and other activist groups to raise awareness of the women about their constitutional rights against discrimination, injustice, exploitation and domestic violence. Special programmes on gender issues should be introduced for the women through mass media to promote their awareness about the ways to achieve dignified position in the society. Women should be educated how to use the law to protect against atrocities and discrimination. The legal provisions made for the protection and upliftment of women must be effectively implemented through the efficient machinery.

References-

Bhagat R.B. and Unisa S., 1991	"Religion, Caste/Tribe and Marriage Age of Females in India : A Study based on recent Census data", *The Journal of Family Welfare*, Family Planning Association of India, Bombay, Vol. XXXVII, No. 1, March.
Bharadwaj K.V., Aditya, 2018	"A Women of Many Words", *The Hindu*, Lucknow, October 23.
Chandrasekhar S., 969	"Status of Women in India", In CIRTPC (Ed.), *Proceedings of the Seminar on Family Planning and the Status of Women*, 10-14 Aug 1969.
Chaudhary, Roma, 1978	"Status and role of women: Great Indian Women Through the Ages", in Renuka Roy and Others (eds.), *Role and Status of Women in India*, Calcutta, Fima, KLM (P) Ltd.
CIRTPC (Central Institute of	Inaugural Address by Chandra Shekhar S. in book edited as

Research and Training in Public Cooperation), 1969	*Proceedings of the Seminar on Family Planning and the Status of Womenfrom 10 to 14 Aug. 1969*.
Gandotra, M.M. and Pandey D., 1979	"Values Attached to children in Indian society and family size norms : The Changes and Impact", *The Journal of Family Welfare,* Vol. XXVI, No.1 Sept.
Guru Swami S. and Basavaraju C., 2016	"Gender Justice in India – An Analysis", *Indian Journal of Human Rights and Social Justice,* Vol. II, No.2, December.
Jung A., 1994	"The Indian Women : Some Observations", *The Journal of Family Welfare*, Family Planning Association of India, Vol. 40, No.2, June.
Kuppuswami B., 1975	*Social Change in India*, Vikas Publications, New Delhi.
Radha Devi D., 1993	"Status of women in India, A comparison by State", *Asia-Pacific Population Journal*, (Demographers' Notebook),Vol. 8, No. 4, December.
Shah Nasra M., 1986	"Introduction" in Shah Nasra M. (Ed.), *Pakistani Women : A Socio-Economic and Demographic Profile*, Pakistan Institute of Development Economics, Islamabad.and East-West Population Institute, Honolulu, Hawai.
Uplaonkar, Dr. Ambarao, 2008	"Veersaivism and Gender Equality in Lingayat Community" *Participative Development (A Special Issue on Women Empowerment),* Vol.7, No. 1, January-June.

ISLAMIC BANKING

Binod Kumar
Assistant Professor
Department of Economics
Government Girls Degree College Aurai Bhadohi UP.

Mohammad Akif Taufique
Assistant Professor
Departmet of Political Science
Government Girls Degree College Aurai Bhadohi UP.

Abstract

A Bank is the establishment for the custody of money received from, or on behalf of, its customers.Islamic Banking is the banking method which is based on Islamic Law (Shariah). Islamic Law prohibits interest based banking and permits only profit sharing based banking. The Holy Quran that says "Allah has allowed only legitimate trade and prohibits interest". It is against the interest, as interest is believed to lead to exploitation and unproductive income. An Islamic bank is a financial institution that operates with the objective to implement the economic and financial principles of Islam in the banking arena. Islamic banks are financial institutions established to promote Islamic economics. An Islamic economy is a market economy guided by moral values. Islam differs essentially from capitalism and socialism in the nature of ownership. This paper is framed with an intention to outline in brief the conceptual framework of Islamic Banking. This paper also throws light on the Islamic laws and governing principles regarding various instruments and operations of Islamic Banking and making attempts to explain the basic principles and various important products of Islamic banking.

Key Words: Islamic Law, Banking, Economy, Islamic Banking

Islamic banking is now a widely used term. Islamic banking has emerged in recent decades as one of the most important trends in the financial world. An Islamic bank is a financial institution that operates with the objective to implement the economic and financial principles of Islam in the banking arena. Islamic banks are financial institutions established to promote Islamic economics. An Islamic economy is a market economy guided by moral values. Islam differs essentially from capitalism and socialism in the nature of ownership. Islam has given detailed regulations for economic life, which is balanced and fair. According to the Quran, everything on this earth belongs to Allah the Almighty. Man is a mere trustee and he is accountable to Him, in accordance with the rules laid down in the Syariah. As such, economic activities are based on the principles of cooperation and responsibility that are ethically guided, and aimed at establishing a just society wherein everyone will behave responsibly and honestly. Islamic banks, like conventional banks, are profit-making organizations. Their aim is to gain profit. However, they are prohibited to trade in riba or to engage in any business activity that is not in compliance with Syariah principles. In contrast, there are no such restrictions on conventional banks. Most conventional banks offer deposit and financing products based on interest and not based on the profit-sharing principle.

Islamic banking has been defined in a number of ways.

The definition of an Islamic bank, as approved by the General Secretariat of the Organisation of the Islamic Conference (OIC), is stated in the following manner: An Islamic bank is a financial institution whose statutes, rules and procedures expressly state its commitment to the principle of Syariah and to the banning of the receipt and payment of interest on any of its operations. (Ali and Sarkar 1995).

According to the Islamic Banking Act 1983, Malaysia, an Islamic bank is a company which carries on Islamic banking business. Islamic banking business means banking business whose aims and operations do not involve any element which is not approved by the religion of Islam (Islamic Banking Act 1983).

According to Muslehuddin (2008), an Islamic Bank may be a company, an association or a concern owned by an individual. An Islamic Bank would be a commercial bank. While the objective of the Bank would be to earn profit, it would identify itself with the Shariah as regards objectives, principles, practices and operations. Islamic Bank would undertake all normal banking business as is done by interest-based banks but the Provisions of Shariah would be kept in view at all times.

Islamic banking is also known as interest free banking which promotes profit sharing. Shariah (Islamic Law) prohibits the charging and paying of interest which is Haraam (forbidden) in Islam. It operates in accordance with the rules of the Shariah, known as Fiqh al-Muamalat (Islamic rules on transactions). Interest-Free Banking is not some alien concept, it is very well practicable and coherent as to be accepted as an alternative to the Conventional Interest based system of banking. Islamic Law prohibits interest based banking and permits only profit sharing based banking. The Holy Quran that says "Allah has allowed only legitimate trade and prohibits interest". It is against the interest, as interest is believed to lead to exploitation and unproductive income.

In essence, Islamic banking operations are based on Islamic principles for financial transactions, that is, risk-sharing and prohibition of products and services having riba and profit- and loss-sharing are major features, ensuring justice and equity in the economy.

The biggest phase of development of Islamic financial institutions occurred in 1980s. In 1985, the High Council of Organization of Islamic Conference (OIC) declared takaful/Islamic insurance as Shariah compliant. The first Islamic bank was established in 1963, at MitGhamr, in Egypt, by Ahmad El Najjar in 1963, but it did not last for long. This bank neither paid nor charged any interest to investors and borrowers. It invested mainly in trade and industry. The profits made by the bank were paid to investors. The experiment, however, lasted only until 1967. Islamic banking, with a very different approach to that in Egypt, also emerged in Malaysia. It was a financial institution developed for Malaysian Muslims undertaking the pilgrimage to Mecca and Medina. This institution called *Lembaga Tabung Haji* (Pilgrims Fund Board, Malaysia) was set up to help Muslims save for their pilgrimage expenses. In 1971, the Naseer Social Bank was established in Egypt, and was declared an interest-free commercial bank, although its charter made no reference to Syariah. In the 1970s, changes took place in the political climate of many Muslim nations which facilitated the establishment of Islamic financial institutions. A number of Islamic banks came into existence in the Middle East during this period: The Islamic Development Bank (1975), The Dubai

Islamic Bank (l975), The Faisal Islamic Bank of Sudan (l977), The Faisal Islamic Bank of Egypt (l977), and The Bahrain Islamic Bank (l979) to mention a few. Islamic banking made its debut in Malaysia in 1983 with the establishment of Bank Islam Malaysia Berhad (BIMB). Since then, Islamic banks and financial houses have been established in Qatar, Sudan, Bahrain, Bangladesh, Indonesia, Senegal, Guinea, Denmark, Switzerland, Turkey, England, Jordan, Tunisia, and Mauritania.

It is estimated that there are more than 250 Islamic banks now operating in over 75 countries. Even in countries with Muslim minorities, such as the USA, Australia, and Thailand, attempts are being made to set up Islamic financial institutions.

There are five basic principles underlying Islamic banking:

1. The prohibition of riba (interest) Effortless profit or profit that increases the principal amount without putting any effort.
2. The sharing of profit and loss between a bank and its customers.
3. Focus on halal (religiously permissible) activities.
4. Prohibition of gharar (uncertainty, risk, speculation).
5. Risk sharing.

The primary objective of establishing Islamic banks is to spread economic prosperity within the framework of Islam by promoting and fostering Islamic principles in the business sector. Key objectives are listed below:

1.Offer Financial Services: Islamic banking statutes and laws are strictly in line with Syariah principles for financial transactions, where riba and gharar are all identified as un-Islamic. The thrust is toward financing on risk-sharing and strict focus on halal activities. The focus is on offering banking transactions adhering to Syariah principles and avoiding conventional interest-based banking transactions.

2.Facilitate Stability in Money Value: Islam recognizes money as a means of exchange and not as a commodity, where there should be a price for its use. Hence, riba-free system leads to stability in the value of money to enable the medium of exchange to be a reliable unit of account.

3.Economic Development: Islamic banking fosters economic development through utilities like Musharakah, Mudharabah, and so on, with a unique profit- and loss-sharing principle. This establishes a direct and close relationship between the bank's return on investment and the successful operation of the business by the entrepreneurs, which in turn leads to the economic development of the country.

4.Optimum Resources Allocation: Islamic banking optimizes allocation of scarce resources through investment of financial resources into projects that are considered to be the most profitable, religiously permissible, and are beneficial to the economy.

5.Equitable Distribution of Resources: Islamic banking ensures equitable distribution of income and resources among the participating parties—the bank, the depositors, and the entrepreneurs—with its profit- sharing approach which is one of a kind.

6.Optimist Approach: Profit-sharing principle encourages banks to go for projects with long-term gains instead of short-term gains. This leads the banks to conduct proper studies before getting into projects, which safeguards both the banks' and investors' interests in total. High returns distributed to shareholders maximize the social benefits and bring prosperity to the economy.

The principles for Islamic banking are listed below:

• Prohibition of Riba: Riba is strictly prohibited under Islam and is considered as haram (nonpermissible). Islam prohibits Muslims from taking or giving riba regardless of the purpose for which such loans are made and regardless of the rates at which interest rate is charged. Islam allows only one kind of loan and that is Qardhul Hassan (benevolent loan) whereby the lender does not charge any interest or additional amount over the money lent. Traditional Muslim jurists have construed this principle so strictly that according to one commentator 'this prohibition applies to any advantage or benefits that the lender might secure out of the qard (loan) such as riding the borrower's mule, eating at his table, or even taking advantage of the shade of his wall'. The principle derived from the quotation emphasizes that direct or indirect benefits are prohibited.

• Equity Participation: Suppliers of funds become investors instead of creditors. The provider of financial capital and the entrepreneur share business risks in return for shares of the profits. Islam encourages Muslims to invest their money and to become partners in order to share profits and risks in the business instead of becoming creditors. In Islam, financing is based on the belief that the financier and borrower should equally share the risk of the business venture. The concept of sharing risk and rewards differentiates the Islamic banks from conventional banks, where all risks lie with the borrower and the customer has to pay the principal amount with interest, regardless of profit or loss from the venture. This provides stimulus to the economy and encourages entrepreneurs to maximize their efforts.

• Money as 'Potential Capital: In Islam, money is only a medium of exchange. It is a way of defining the value of a thing. It has no value in itself and, therefore, should not be allowed to give rise to more money, via fixed interest payments, simply by being put in a bank or when lent to someone. A mere postponement of consumption is no justification for reward. Money is treated as 'potential capital'. It becomes actual capital only when it combines with other resources to undertake productive activity. Islam recognizes the time value of money, but only when it acts as capital, not when it is 'potential capital'. This principle encourages Muslims to invest money into different ventures. Hoarding of money is considered haram. It is accepted that money represents purchasing power but only for the proper use of money. It cannot be used to increase purchasing power without any productive activity.

• Prohibition of Gharar: An Islamic financial system discourages hoarding and prohibits transactions featuring extreme gharar (uncertainties) and maysir (gambling). Under this prohibition, any economic transaction entered into should be free from uncertainty, risk, and speculation. In business terms, gharar means to undertake a venture blindly without sufficient knowledge or to undertake excessively risky transactions. However, minor uncertainty can be permitted when it is deemed necessary. The prohibition applies even when the seller is not in a position to hand over the goods to the buyer or the subject matter of sale is incapable of acquisition, such as selling of fruit that are unripe or fish or bird not yet caught. As such contracting parties should have good knowledge of the products intended to be exchanged as a result of their transactions. Gharar is also applied to investments. This means that financial products such as options and futures are considered un-Islamic.

• Sanctity of Contracts: Islam upholds contractual obligations and the disclosure of information as a sacred duty. This feature is intended to reduce the risk of asymmetric information and moral hazard. As such contracting parties should have good knowledge of the products intended to be exchanged as a result of their transactions. Furthermore, parties cannot predetermine a guaranteed profit. This is based on the principle of 'uncertain gains' which, on a strict interpretation, does not even allow an undertaking from the customer to repay the borrowed principal plus an amount to take into account for inflation. The rationale behind the prohibition is to protect the weak from exploitation.

• Syariah-approved Activities: Islamic Banking Islamic banks participate in business activities that do not violate the rules of Syariah. For example, any investment in businesses dealing with alcohol, gambling, and casinos would be strictly prohibited. As such, Islamic banks are expected to establish a Syariah Supervisory Board consisting of Syariah jurists who act as independent Syariah auditors and advisors to the banks. They will be responsible for ensuring that the practices and activities of Islamic banks do not contradict Islamic ethics.

We can describe some of the major advantages of Islamic banking:

1.Justice and Fairness: The main feature of the Islamic model is that it is based on a profit-sharing principle, whereby the risk is shared by the bank and the customer. This system of financial intermediation will contribute to a more equitable distribution of income and wealth.

2.Liquidity: They follow the profit- and loss-sharing principle to mobilize resources and are less likely to face any sudden run on deposits. As such, they have a minimum need for maintaining high liquidity.

3.Better Customer Relations: Financing and deposits are extended under the profit- and loss-sharing arrangement. The banks are likely to know their fund users better in order to ensure that the funds are used for productive purposes, and vice versa for investors. In this way, it develops better relations between the financial intermediary and the fund providers or consumers. It will also promote productive economic activities and socio-economic justice.

4.No Fixed Obligations: Islamic banks do not have fixed obligations such as interest payments on deposits. Therefore, they are able to allocate resources to profitable and economically desirable activities. This also holds good for Islamic financing, as the payment obligations of the entrepreneur is associated with the revenue.

5.Transparency: They are transparent to the account holders on the investments made in different areas and the profits realized from these investments. The profit is then shared in the pre-agreed ratio.

6.Ethical and Moral Dimensions: Their strong ethical and moral dimensions of doing business and selecting business activities to be financed play an important role in promoting socially desirable investments and better individual/corporate behavior.

7. Destabilizing Speculation: Most of the non-Islamic institutions are trading heavily into financial markets and carrying out huge speculative transactions. These transactions are sources of instability and the returns on investments are highly speculative. On the contrary, Islamic banks are prohibited from carrying out such activities. This destabilizes the speculation and is in the better interest of the depositors.

8.Banking for All: Although based on Syariah principles to meet the financial needs of Muslims, it is not restricted to Muslims only and is available to non-Muslims as well.

Some existing Islamic Banking Products around the World are as follows:

(a) Mudarabah: Mudaraba is one of the popular Islamic banking products.Mudarabah is a form of financing where an investor and an entrepreneur join hands. As per formal agreement drawn between them, the investor provides funds whereas the entrepreneur uses his skills to earn profit for their joint venture. In case of Islamic banks, depositors would be called Rub Al mal and bank will be considered as Mudareb. The investor of capital is called Rub Al Mal and the entrepreneur Mudareb.

(b) Murabaha: Theterm Murabaha refers to a sale transaction with an element of profit for the seller and has nothing to do with financing in its original sense. A Murabaha transaction entails sale of goods by an Islamic bank to its customer with cost plus profit, usually on a deferred payment basis.

(c) Musharaka: In Musharaka a customer buy the banks'share of the ownership. The Customer is also required to lease the bank's part of ownership in the asset. Thus, customer actually makes two periodical payments to the banks-one towards part purchasing the banks ownership in the asset and the other being rent on leasing out the remaining part of the banks ownership in the asset.

(d) Takaful: Takaful is commonly referred to as Islamic Insurance. It is based on the principle of cooperation and separation between operations of shareholders and the funds. The ownership of takaful fund and operations are passed to the policyholders. The policyholders are joint investors with the takaful operator who acts as a manager for policyholders. All policyholders agree to guarantee each other and contribute to a pool of funds (takaful fund) instead of paying premiums. Any claims made would be met out of the fund and surpluses will be distributed among policyholders. Takaful operator would be paid a fee only for managing the fund and covering the costs.

(e) Ijarah: The bank would buy an asset as per the client and allow the client to use the asset for a specified lease period and a lease fee. It is a lease agreement between the Islamic bank and its client. The bank will possess the ownership of the asset.

Although Islamic banking is for all irrespective of religion, but particularly for Muslims interest is forbidden and that is why Islam has its own economic system which is based on social justice. But as far as Muslim population is concerned, then Islam is the world's second largest religion after Christianity with over 1.0-1.8 billion adherents, comprising 20-25% of the world population while most estimates figures that there are 1.5 billion Muslims worldwide. Teaching of Quran is based upon righteousness and mutual help. "Help to one another unto righteousness and piety, but help not to one another unto sin and transgression" is the call of Qur'an. An Islamic bank does not normally lend money except interest-free loans which are termed as Qard Hasanah (Benevolent Loans) while loans on service charge, not exceeding the actual administrative cost of such loans, have also been permitted by Muslim Scholars. To replace interest, the ideal mode of financing under the Islamic banking system is "Financing on Profit & Loss Sharing" (PLS) basis. Qard Hasanah are for the benefit of the individuals and the society at large.The basic concept on which earlier Islamic Banking

functions depended and flourished was Mudharaba. Mudharaba, according to jurists, is a social contract whereby one gives his property to another to carry on business therewith and the profit to be shared between them according to the specked terms such as one-half, one-third or so. Mudharaba is a simple system of partnership, which will work by the distribution of half yearly profits to the account holders/customers who in fact are the shareholders to the Bank. Mudarabah is the basis of modern Islamic banking on a two-tier basis. 1st tier: The depositors put their money into the bank's investment account and agree to share profits with it. In this case, the depositors are the providers of the capital and the bank functions as the manager of funds. Second tier: Entrepreneurs seek finance from the bank for their businesses on the condition that profits accruing from their business will be shared between them and the bank in a mutually settled proportion, but that any loss will be borne by the bank only. In this case, the bank functions as the provider of capital and the entrepreneur functions as the manager.

References

(1) Rivlin, Paul, The Development of Islamic Banking.2008 Orient, pp.4–11

(2) Iqbal, Zubair, and Abbas Mirakhor, 1987, ―Islamic Banking, IMF Occasional Paper No. 49

(3) Bashier: Portfolio Management of Islamic Banks "Certainty Model". IN: Journal of Banking and Finance 7, 1983.

(4) Viverta, B. K.andSkully, M. (2007), "Efficiency Analysis of Islamic Banks in Africa, Asia and the Middle East",Review of Islamic Economics, Vol. 11, No. 2, pp. 5-16.

(5) Iqbal, M. (2001),"Islamic and Conventional Banking in Nineties: A Comparative Study".Journal of Islamic Economic Studies, Vol. 8, No. 2, pp. 1-28.

(6) Khan, M.A. &Hussin, N., 2013. Islamic Banking in India: Developments, Prospects and Challenges.

(7) Iqbal Munawar, Ausaf Ahmed and Tariqullah Khan "Challenges Facing, Islamic Banking" Occasional Paper No. 1, IRTI, IDB, Jeddah 1998

(8) Wilson Rodney "The Interface between Islamic and Conventional Banking" A paper presented at 4th International Conference at Loughborough University, UK 2000

(9) Siddiqi M.N. "Issues in Islamic Banking", The Islamic Foundation, Leicester, UK 1983

(10) Mahmud Ahmed "Islamic Banking Modes for House Building Finance" Seminar Proceeding Series No.28, IRTI, Jeddah 1995

Journal of Socio-Educational & Cultural Research, Vol. 6, No. 13, July-Dec., 2020 ISSN : 2394-2878

कला का शैक्षिक मूल्य

डॉ0 रचना सिन्हा
एसो0 प्रोफेसर
के0 एस0 साकेत पी0जी0 कालेज, अयोध्या

सारांश :

शिक्षा और कला दोनों ही व्यक्ति में रचनात्मक ओर सृजनात्मक दृष्टकोण का विकास करते हैं। कला मानवीय क्रिया है और शिक्षा मानव के विकास का अद्वितीय साधन है। शिक्षा व्यवस्था में कला शिक्षा को स्थान देने से मानव कल्याणकारी शिक्षा की प्राप्ति होगी क्योंकि इसी के द्वारा जीवन सत्य शिव और सुन्दर से समन्वित होता है। गीत–संगीत, चित्रकला, नाट्यकला, स्थापत्य कला, सभी कुछ बालक के मन के चेतन अर्द्धचेतन व अचेतन तीनों स्थितियों को प्रभावित करती हैं। यह सीधे उपदेशपरक न होकर बालकों को भीतर से परिष्कृत कर अधिक संवेदनशील सरल व करूणायुक्त बनाती हैं। समाज के सांस्कृतिक जीवन से परिचित कराती है साथ ही नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों का विकास करती है। अतः शिक्षा के प्रत्येक स्तर पर कला शिक्षण को आवश्यक मानते हुए इसकी शिक्षा प्रदान की जानी चाहिए। अन्य विषयों के समान ही इसको भी महत्व मिलना चाहिए। कला विहीन सामान्य शिक्षा से बालक का चहुँमुखी विकास सम्भव नहीं है।

विद्यार्थियों में सृजनात्मकता के विकास के लिये सबसे उपयुक्त व महत्वपूर्ण माध्यम है कला की शिक्षा। विद्यार्थियों में छुपी अनेकों सृजनात्मक योग्यताओं को मुखर करने में, उनकी कल्पनाओं को पंख देने में सौन्दर्यानभूति को पुष्पित करने में, कला शिक्षा सहायक होती है। जब से मानव का अस्तित्व इस धराधाम पर है तब से कला का भी अस्तित्व है। निरन्तर अलग–अलग रूपों में आकारों, रगों एवं रेखाओं में इस कला की अभिव्यक्ति होती रही है। विभिन्न संस्कृति और सभ्यता, कला के माध्यम से ही वर्तमान में भी जीवित है। कला जीवन को सत्यम्, शिवम् सुन्दरम् से समन्वित करती है। इसके द्वारा ही बुद्धि, आत्मा का सत्य स्वरूप झलकता है। कला ही आत्मिक शांति का माध्यम है। ये ही धर्म, भाषा, स्वार्थ, जाति क्षेत्र आदि की सीमाएँ मिटाकर व्यक्ति के मन को उदात्त बनाती हुई व्यापकता प्रदान करती हुई स्व से निकालकर वसुधैव कुटुम्बकं से जोड़ती है।

कलाओं में मुख्य रूप से दृश्य और प्रदर्शनकारी कलाएँ सम्मिलित होती है, दृश्य कला के अन्तर्गत चित्रकला, मूर्तिकला एवं स्थापत्य कला सम्मिलित होती हैं और प्रदर्शनकारी कला में नृत्य, नाटक, फिल्में आती हैं। इन कलाओं के मूल में भावनाओं की सहज सौन्दर्यपूर्ण और सृजनात्मक अनुभूति निहित होती है।

मानव के पूर्ण विकास हेतु कला की दोनों विधाओं का शिक्षण आवश्यक है। इसी से विद्यार्थी का मानसिक, शारीरिक, आध्यात्मिक विकास सम्भव होगा। सौन्दर्य की समझ विकसित होगी और विद्यार्थी इसके महत्व को भी समझ सकेंगे।

'इसीलिए शिक्षाविदों का मानना है कि बालकों की सामान्य शिक्षा कला पर आधारित होनी चाहिए। कला विहीन सामान्य शिक्षा गणित, इतिहास, विज्ञान आदि में तो विद्यार्थियों को आगे बढ़ा देती है परन्तु सांस्कृतिक अभिव्यक्ति को नकारती है। सामान्य शिक्षा में कला की भूमिका अत्यन्त

संवेदनशील रहती है। वह विद्यार्थी को सौन्दर्य का प्रसंशक व विश्लेषक बनाती है, न कि प्रदर्शन करने वाला कलाकर।'[1]

कला किसी भी रूप में मानव को आत्मविभोर करने में सक्षम होती है। जीवन को परिपूर्णता का अनुभव कराती है, भावनाओं का परिष्कार कर उन्हें उदात्त बनाती है और यही उदात्तीकरण जनकल्याण की सृष्टि करता है। कला का अध्ययन न केवल रचनात्मकता के माध्यम से बालकों के हृदय और मस्तिष्क का परिष्कार करता है। बल्कि अकादमिक प्रदर्शन में भी सुधार करता है।

कला के शैक्षिक मूल्यों को बालकों के व्यक्ति के बहुपक्षीय विकास के सन्दर्भ में बिन्दुवार देखें तो–

1. कला द्वारा बालक निर्णयपूर्ण तरीके से सोचना सीखता है और उसका क्रियान्वयन भी करता है।
2. कला ही बालकों को सूक्ष्म से सूक्ष्म बातों पर भी ध्यान देना सिखाती है क्योंकि छोटे–छोटे अन्तर का प्रभाव भी बड़ा हो सकता है।
3. जिसे व्यक्त नहीं किया जा सकता उसे व्यक्त करने का तरीका कला ही सिखाती है।
4. कला से उन अनुभवों की प्राप्ति होती है, जो किसी अन्य स्रोत से प्राप्त नहीं हो सकते।
5. कला ही विद्यार्थी को कल्पनाशील बनाती है और कल्पनाओं को वास्तविकता में लाने के अवसर भी देती है
6. कला सभी स्तर के विद्यार्थियों के लिए चुनौती प्रस्तुत करती है, साथ ही विद्यार्थी स्वनिर्देशन से सीखने में सक्षम भी बनते हैं।
7. कला बालकों को रचनात्मक श्रम के लिए प्रेरित करती है।
8. कला विद्यार्थी के दृष्टिकोण और बुद्धि का विकास करती है।[2]

स्पष्ट है कि कला शिक्षण का उद्देश्य कलाकार का निर्माण नहीं बल्कि कला बोध और कलात्मक व्यवहार को विकसित करना है। इसके लिए हर विषय के शिक्षण में कलात्मक का पुट समाहित करना है। जीवन के हर पहलू में कला बोध को अपनाना है।

यदि हमारी शिक्षा का उद्देश्य सर्वांगीण विकास हो तो पाठ्यक्रम में कला का स्थान अन्य पढ़ाई–लिखाई के विषयों के समान होना चाहिए। प्राथमिक से लेकर उच्च स्तर तक अन्य विषयों के साथ कला को भी एक अनिवार्य विषय के रूप में पाठ्यक्रम में रखा जाए और परीक्षा की दृष्टि से भी कला को अनिवार्य विषय माना जाए।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से ही विभिन्न शिक्षा समितियों द्वारा कला को महत्वपूर्ण स्थान दिये जाने सम्बन्धी विभिन्न अनुशंसायें होती आ रही हैं। माध्यमिक शिक्षा समिति 1952–53 में विद्यार्थियों में सृजनात्मक ऊर्जा के विकास व सांस्कृतिक विरासत के ज्ञान व सम्मान पर ज्यादा जोर दिया गया। कला, क्राफ्ट, संगीत, नृत्य आदि विधाओं के विषय के रूप में पाठ्यक्रम में शामिल करने पर जोर दिया गया ताकि विद्यार्थी आवश्यकता पड़ने पर इसे आजीविका के रूप में अपना सकें और श्रम की महत्ता को भी समझ सकें।[3]

कोठारी कमीशन 1964–66 में भी दृश्य कला व प्रदर्शनकारी कलाओं के लिए शिक्षकों को प्रशिक्षण देने की बात कही गयी थी। साथ–साथ ही कला शिक्षण को महत्व न मिलने से होने वाली

क्षति के कारण नैतिक मूल्यों के हनन और सौन्दर्य बोध में होने वाले ह्रास को भी आयोग ने इंगित किया था।

कोठारी कमीशन की रिपोर्ट के परिणाम स्वरूप एन0सी0ई0आर0टी0 में श्री के0जी0 सैयदेन की अध्यक्षता में कला शिक्षण की महत्ता को स्थापित करने के लिए एक कमेटी गठित की, इसने 1967 में अपनी रिपोर्ट में शिक्षा के प्रत्येक स्तर पर कला शिक्षण की अनिवार्यता का पर जोर दिया और शिक्षकों को इसके लिए प्रशिक्षित करने के कार्यक्रम की रूपरेखा, योजना भी दी।

'राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 में भी कला को महत्व देते हुए विद्यालयी शिक्षा के अन्तर्गत ही विद्यार्थियों को देश की विभिन्न संस्कृतियों और विस्तृत जानकारी प्रदान करने व उनके महत्व को बताने की अनुशंसा की गयी। 1992 में गठित यशपाल समिति ने भी 1986 की राष्ट्रीय नीति को भी आधार बनाते हुए पूर्व प्राथमिक स्तर से ही संस्कृति और शिक्षा का समावेश करते हुए विद्यार्थियों के व्यक्तित्व के विकास पर जोर दिया,'[4] तथा सांस्कृतिक आदान–प्रदान पर बल देते हुए युवाओं को सांस्कृतिक सरोकारों में योगदान के लिए प्रेरित करने पर बल दिया। एवं सीखने एवं कौशल विकास को महत्व दिया और 'लर्निंग विदआउट बर्डन' जैसे सम्प्रत्यय की सिफारिश की गयी।

राष्ट्रीय पाठ्यक्रम निर्माण परिचर्चा 2005 के अन्तर्गत कला शिक्षा के विषय में कई महत्वपूर्ण बिन्दुओं पर अनुशंसायें की गयी।

1. माध्यमिक स्तर पर कला को अनिवार्य विषय के रूप में पढ़ाया जाए और उनसे सम्बन्धित साधन की उपलब्ध कराये जायें।
2. विद्यालय में पढ़ायें जा रहे अन्य विषयों को भी कला के माध्यम से सृजनात्मक ढ़ंग से पढ़ाया जाए।
3. कला की विभिन्न विधाओं संगीत, नृत्य, दृष्यात्मक कलाएं और नाटक के लिए अलग–अलग प्रशिक्षित शिक्षकों की उपलब्धता हो।[5]

विभिन्न आयोगों की संस्तुतियों व विभिन्न कमेटी की रिपोर्ट के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कला की शिक्षा की कभी की उपेक्षा नहीं की गयी, सदैव उसे विद्यालयी शिक्षा से जोड़कर रखा गया, क्योंकि कला ही वह माध्यम है जिसके द्वारा युवा मस्तिष्क पूर्णरूप से विकसित होता है, और युवा ही देश का निर्माता है। अतः शिक्षण संस्थानों के प्रबन्धकों/अधिकारियों को कला शिक्षा को स्कूल के पाठ्यक्रम में, गतिविधियों में आवश्यक व उचित स्थान देना चाहिए। उसे अन्येतर गतिविधि तक ही सीमित न रखा जाए। कला प्रति अभिभावकों के दृष्टिकोण में परिवर्तन करने की भी आवश्यकता है, ताकि वह अपने बच्चों को सहर्ष खुले मन से विविध कलाओं को चुनने व अपनाने की अनुमति दें। क्योंकि कला शिक्षण के द्वारा ही विद्यार्थी एक सुसंस्कृत नागरिक बन सकेगा। जो कि देश की कला और संस्कृति का सम्मान करेगा। और शांतिपूर्ण जीवन भी बितायेगा, क्योंकि कला की शिक्षा ही सृजनात्मकता के साथ–साथ शांतिपूर्ण और सौहार्दमय वातावरण का भी विकास करती है। अतः कला–शिक्षण को भी विज्ञान, गणित तकनीकी शिक्षा, शारीरिक शिक्षा व सामाजिक विज्ञान के समकक्ष ही स्थान मिलना चाहिए। ताकि विभिन्न कलाओं के प्रति अभी भी जो गलत मानसिकता अभिभावकों में बनी हुई है, उसे दूर किया जा सकेगा और बाल्यावस्था से लेकर किशोरावस्था तक विद्यार्थियों के ज्ञान और भावनात्मक स्तर में संतुलन स्थापित कर उसे एक प्रतिभावान व अनुशासित नागरिक बनाया जा सके, क्योंकि संगीत, नृत्य आदि सभी दृश्य व प्रदर्शनकारी कलाओं से बढ़कर अनुशासन कहीं भी नहीं होता है। इसमें शरीर व मस्तिष्क दोनों की सक्रिय भागीदारी होती है।

विद्यार्थी आक्रोश और उदंडता से दूर होकर सृजनशील और ज्ञानवान व्यक्तित्व का स्वामी हो जाता है।

निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि मनुष्य के समग्र विकास हेतु कला–शिक्षण की दोनों विधाओं को शिक्षा व्यवस्था में समाहित कर शिक्षण दिये जाने से विद्यार्थी का शारीरिक मानसिक और आध्यात्मिक विकास सम्भव होगा और वह एक पूर्ण मानव के रूप में विकसित होगा।

सन्दर्भ ग्रन्थ–

1. **चौहान रीता :** नाट्य, कला और शिक्षा (अग्रवाल पब्लिकेशन्स) पृष्ठ सं0–08
2. **www.wikipedia/art&culture.com**
3. **दास त्यागी गुरूसरन :** आधुनिक भारत एवं शिक्षा चिन्तन एवं मुद्दे, श्री विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, प्रथम संस्करण, 2016
4. **लाल बिहारी रमन :** भारतीय शिक्षा का विकास एवं उनकी समस्याएँ, रस्तोगी पब्लिकेशन, मंगोत्री, शिवाजी रोड, मेरठ। छठा संस्करण, 2010–11
5. **www.wikipedia/historyofeducation.com**
6. **सिंधानिया निमित :** भारतीय कला एवं संस्कृति मेक ग्राव हिल पब्लिकेशन अमेरिका।
7. **कांत मिनाक्षी :** भारतीय कला संस्कृति एवं विरासत जी0के0 पब्लिकेशन दिल्ली।

****

पर्यावरण संरक्षण और जनजातीय महिलाः एक समाजशास्त्रीय अध्ययन

पाटला कुमारी
नेट,
शोध छात्रा,
स्नातकोत्तर समाजशास्त्र विभाग राँची विश्वविद्यालय, राँची।

पर्यावरण का अर्थ उस वातावरण से है, जिससे सम्पूर्ण जगत या जीव जगत घिरा हुआ है। वह हर चीज जो हम अपने जीवन जीने के लिए इस्तेमाल करते हैं वो सभी पर्यावरण के अंतर्गत आता है। जैसे कि हवा, पानी, भूमि, सूर्य की रोशनी, पेड़–पौधे, जंगल, पशु–पक्षी, नदी, पहाड़ और सभी प्राकृतिक चीजें। दूसरे शब्दों में, पर्यावरण प्रकृति का ही दूसरा नाम है, जिसे हम अपने चारों ओर देखते–सुनते तो हैं पर महसुस कम ही कर पाते हैं।

पर्यावरण को दो भागों मे बाँटा जा सकता हैः–

1. भौगोलिक पर्यावरण
2. समाजिक पर्यावरण

भौगोलिक पर्यावरण को प्रकृति ने तैयार किया है। जिन पर प्रकृति का सीधा नियंत्रण हो। भौगोलिक पर्यावरण के अंतर्गत आते हैं– सूर्य, वनस्पति, ऋतु परिवर्त्तन, जीव–जन्तु, ज्वालामुखी, भूकंप, जल, वायु, खनिज इत्यादि। सामाजिक पर्यावरण मनुष्य निर्मित होता है।

मानव सहित सभी जीव पर्यावरण की देन है। मानव की सभी क्रियाओं, आधारभूत आवश्यकताओं का सीधा संबंध पर्यावरण से है। पुराने समय से हमारे पर्यावरण संरक्षित रहे हैं। हमारे प्राचीन धर्मग्रंथों में वनों का महत्व वर्णित है तथा भारतीय संस्कृति में भी वनों का बहुत ही महत्व है। पिछले कुछ दशकों में जनसंख्या में अभूतपूर्व बढ़ोतरी हुई है जिससे मानव की आवश्यकताओं में भी वृद्धि हुई। अपनी इन आवश्यकताओं को पुरा करने के लिए मानव प्राकृतिक संसाधनों का दोहन करना शुरू कर दिया तथा वनों का भी अति दोहन हुआ है। आज मानवीय क्रिया कलाप ने पर्यावरण को इस प्रकार से प्रभावित किया है कि इस क्रिया से पुरा पर्यावरण प्रदूषित हुआ है। पर्यावरण जिसमें मनुष्य रहता है इसके साथ ही जल तथा वायु जो कि मानव के लिये अत्यन्त आवश्यक है दिन प्रति–दिन प्रदूषित होता जा रहा है।वर्त्तमान में पर्यावरण संरक्षण एक वैश्विक मुद्दा है। आज जब पर्यावरणीय समस्याएँ बढ़ गईं है, तो लोग इसके संरक्षण को लेकर चिंतित हैं। इसके लिए हमें जनजातियों से, उनकी परंपरा, रीति–रिवाज, पर्व–त्योहार, अनुष्ठान से सीखने तथा अपनाने की आवश्यकता है।पर्यावरण को स्वच्छ बनाने, प्रकृति के घटक जल, वायु, नभ के आदान–प्रदान में सहायक बन उसके संरक्षण में महिलाओं की भूमिका अहम हो सकती है क्योंकि वह संवेदनशील, स्नेह की प्रेम की मूर्ति होती है।अतः वह प्रत्येक व्यक्ति को पर्यावरण संरक्षण के संस्कार आसानी से दे सकती है। जनजातीय समाज में भोजन जुटाने की जिम्मेदारी, जंगलों से जलावन के लिए लकड़ी लाने, इकट्ठा करने की जिम्मेवारी महिलाओं की ही होती है। साथ ही पीने के पानी की व्यवस्था करना, पशुओं के लिए चारा की व्यवस्था करना भी उन्हीं के जिम्मे में होती है। अतः जनजातीय महिलाएँ प्रकृति से ज्यादा नजदीक होती हैं।

शोध विधिः—प्रस्तुत शोध आलेख मैंने झारखण्ड के संदर्भ में प्रस्तुत किया है। इस अध्ययन के लिए द्वितीयक स्रोतों का प्रयोग किया गया है। तथ्यों के संकलन हेतु मैंने पुस्तकों, शोध पत्रिकाओं, प्रलेखों, प्रतिवेदन, वेबसाइट आदि का प्रयोग किया है।

जनजाति एवं जंगल

ज्योंहि जनजाति शब्द का प्रयोग होता है उससे जंगल में रहने वाले लोगों के बारे में एक धारणा बनती है। सदियों से यह समाज जंगली तथा पठारी क्षेत्रों को अपना वास स्थान बनाए हुए है। विश्व में आदिवासियों की पहचान जल, जंगल—जमीन पर्यावरण के जीवंत संबंध से है। जंगल, जमीन, नदी, पहाड़, झरना, आदि जनजातिय समाज के लिए संपत्ति नहीं बल्कि धरोहर है। जनजातीय समाज की भाषा, संस्कृति, नदियों में बहते पानी आकाश में मंडराते बादल, प्रकृति की गोद में उगे घास — फूस, फूल—पत्ता और आकाश में उड़ती चिड़ियों के चहक के साथ विकसित हुई है। एक दूसरे को अलग कर न जनजातीय समाज की कल्पना भ नहीं की जा सकती है न ही जल—जंगल—जमीन और पर्यावरण की। इतिहास गवाह है देश के जिस भी हिस्से ये जनजाति बसे, घने जंगल झाड़ को सांप, बिच्छू, बाघ, भालू से लड़कर आबाद किया। उन्होंने रहने लायक गाँव बसाए। 'बिर बानो दिसुम आले होड़ोको काले सुकुआ।' इसका अर्थ है कि हम आदिवासी लोग जंगल बिना धरती पर सुकून ही नहीं महसुस करते हैं।जनजातीय समाज जंगल से जितना लेता है उसका दोगुना उसे देता भी है। वे दो पेड़ काटते हैं तो दस पेड़ लगाते भी हैं। वृक्षों के संरक्षण के लिए जनजाति विभिन्न पेड़ों की पूजा करते हैं।

झारखण्ड क्षेत्र में वृक्षों की पूजा की परम्परा मानव सभ्यता के विकास के साथ ही चली आ रही है। यहाँ की जनजातियाँ आस्था से प्रकृतिपूजक होते हैं। वे किसी आकृति वाली मूर्ति की पूजा नहीं करते बल्कि प्रकृति की पूजा करते हैं। इस क्षेत्र के करमा, सरहुल पर्यावरण की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण त्योहार है,जिसमें वे पेड़ों की पूजा करते हैं।जंगल एवं जनजातियों के बीच जो परंपरागत प्रतीकात्मक संबंध चला आ रहा है। उनका सम्मान करते हुए आज भारतीय विकास निगमों सहित वन प्रबंधन में वनों के संरक्षण, उनके पुनरूत्थान एवं उनके विकास के कार्यों में जनजातियों का सहयोग किया जाता है। जनजातीय संस्कृति पर्यावरण, पेड़ों, जानवरों, व पक्षियों की रक्षा में विश्वास रखती है। आज पुरी दुनिया तेजी से घटते वन क्षेत्र से काफी चिंतित है। आधुनिक समाज की सोच ने वनों को लाभ का वस्तु बना दिया है। परंतु जनजातियों के लिए जंगल एक पुरी जीवन शैली है। अपने अस्तित्व और आनेवाली पीढ़ियों की खुशहाल जिंदगी के लिए वे जंगल बचाना जानते हैं। अपने नियम—कानून से वे पुरखों से जंगल बचाते आ रहे हैं। वन संरक्षण में उनकी सोच कितनी टिकाऊ है, यह वनों के उपयोग में उनके तौर—तरीके और नियम से पता होता है।

आज पर्यावरणीय समस्याएँ बहुत बढ़ गई हैं जिसके लिए पुरा विश्व चिंतित है। पर्यावरण को नुकसान पहुँचाने वाले विभिन्न कारक हैं, जिसका बुरा प्रभाव पूरे प्राणियों, जीव—जन्तुओं पर व्यापक पड़ रहा है। पर्यावरण को क्षरण पहुँचाने में मानवीय क्रिया कलाप सबसे ज्यादा प्रभावशाली है।विकास कार्यों के प्रभाव से भी पर्यावरण प्रदूषित हो रहा है। इसलिए यह आवश्यक हो गया है कि पर्यावरण्र को प्रदूषित होने से समाज कैसे बचाये। चूँकि जनजातियों का पर्यावरण प्रकृति से घनिष्ट संबंध है अतः पर्यावरण के संरक्षण में उनकी भूमिका प्रमुख है। यह पर्यावरणीय समस्याएँ जनजातीय समाज को किस प्रकार से प्रभावित कर रही है और जनजातीय महिलाओं की इसके संरक्षण के लिए क्या

भूमिका है, यह अध्ययन का महत्वपूर्ण विषय है। इसे ध्यान में रखते हुए ही उपयुक्त विषय का चुनाव किया गया है।

पर्यावरणीय संदर्भ में जनजातियों की भूमिका

आदिम जनजातियाँ हजारों वर्षों से जंगलों एवं पर्वतीय क्षेत्रों में रहती आ रही हैं। वे शुरू से प्रकृति प्रेमी रहे हैं।विश्व भर में हर जनजातीय समुदाय प्रकृति को विभिन्न रूपों में पूजता है। प्रकृति के प्रति उनकी आस्था एक होती है चाहे पूजा पद्धतियाँ एक क्यो ना हो ।भारत की अधिकतर जनजातीय समुदाय के लोग अपने सांस्कृतिक पर्व–त्योहार, अनुष्ठान,धार्मिक कार्य के लिये संसाधन संरक्षण तथा प्रकृति संरक्षण का कार्य करते हैं। आज भारतीय विकास निगमों सहित वन प्रबंधन में वनों के संरक्षण एवं उनके विकास कार्यों में जनजातीयों का सहयोग लिया जाता है, क्योंकि जंगल और जनजातियों के बीच प्रतीकात्मक संबंध परंपरागत रूप से चलता आ रहा है। वे बिना किसी स्वार्थ के प्रकृति की रक्षा करते आए हैं। उनमें वन संरक्षण की प्रबल प्रवृति पाई जाती है। जनजातीयों के पर्व–त्योहार के जो अनुष्ठान होते हैं वे सामाजिक धार्मिक महत्त्व के होते हैं और उनका जुड़ाव आत्मिक शक्तियों एवं प्रकृति से है। चूँकि उनका अस्तित्व प्रकृति पर ही आधारित होता है इसलिए वे प्रकृति को सामाजिक सांस्कृतिक अस्तित्व एवं आस्था का एक अभिन्न हिस्सा मानते हैं और उसी रूप में देखते हैं। जनजातीयों का संबंध प्रकृति से इतना निकटतम है कि वे वृक्षों वर्ष में एक ही बार काटते हैं। वृक्षों के संरक्षण के लिए वे विभिन्न पेड़ों की पूजा करतें हैं। इन कार्यों से ही पर्यावरण संरक्षण में उनकी भूमिका का पता चलता है।

22 अप्रैल 1970 से दुनियाभर मे पृथ्वी दिवस मनाया जा रहा है। परंतु भारतीय जनजातीय संस्कृति में हजारों सालों से पृथ्वी को पूजकर पृथ्वा दिवस मनाने की परंपरा चली आ रही है। झारखण्ड की जनजातीय संस्कृति में हजारों सालों से पृथ्वी दिवस के रूप में सरहुल पर्व मनाया जाता है, जिसमें पृथ्वी की आराधना धार्मिक अनुष्ठान करके की जाती है। जनजातियों का कहना है कि धरती माता हमें अन्न, फल–फूल, पेड़–पौधे, जल, पहाड़, नदियाँ, झरने आदि का सुख देती है। धरती माता की कृपा से ही जीव–जंतुओं, इंसानों का जीवन चलता है। इन्हीं वजहों से जनजातीय समुदाय हजारों सालों से धरती माता को आराध्य मानकर पूजते आए हैं।

पर्यावरणीय आंदोलन में महिलाओं के योगदान

भारतीय महिलाओं ने पर्यावरण संरक्षण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।देश में ऐसे कई पर्यावरण–संरक्षण आंदोलन हुए हैं खासकर वन–आंदोलन जिसमें महिलाओं ने ही महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। कुछ महत्त्वपूर्ण आदोलन निम्न हैंः–

खेजड़ली आंदोलन– यह आंदोलन पर्यावरण चेतना का बहुत बड़ा उदाहरण है, जो 1730 में राजस्थान के खेजड़ली गाँव में हुआ था। जोधपुर के महाराजा ने अपने महल के निर्माण हेतू लकड़ी लेने के लिए सिपाहियों को भेजा जो खेजड़ली गाँव कुल्हाड़ी लेकर पहुँच गए तो गाँव की ही एक महिला अमृता देवी ने वृक्ष काटने का विरोध कर अपनी तीनों बेटियों के साथ पेड़ पर लिपट गई। इस महिला ने वृक्ष बचाने के लिए अपने प्राणों की आहुति भी दे दी। गाँव में इस खबर के फैलते ही वृक्ष संरक्षण हेतू 363 लोगों ने अपने प्राणें की आहुति दे दी।

चिपको आंदोलन– इस आंदोलन को ईको फेमिनिस्ट आंदोलन भी कहा जाता है क्योंकि इस आंदोलन की अधिकांश कार्यकताएं महिलाएं ही थी। यह आंदोलन उत्त्राखण्ड के चमोली में हुआ था। गौरी देवी नाम की एक महिला के नेतृत्व में 26 मार्च 1974 को रेणी के वृक्ष काटने आए लोगों को

चमोली गांव की महिलाओं ने यह कहकर भगा दिया कि 'जंगल हमारा मायका है, हम इसे कटने नहीं देंगे'।

नवधान्या आंदोलन–यह आंदोलन 1987ई• से पर्यावरणविद वंदना शिवा के नेतृत्व में चलाया जा रहा है। इस आंदोलन में जैविक कृषि के लिए लोगों को प्रेरित करने के साथ किसानों को बीज वितरित किये जाते हैं तथा जंकफूड, हानिकारक कीटनाशकों व उर्वरकों के दुष्परिणामों के प्रति जागरूक किया जाता है।

नर्मदा आंदोलन–यह आंदोलन नर्मदा नदी पर सरदार सरोवर बांध से विस्थापित हुए लोगों की पुनर्वास की व्यवस्था करने के लिए हुई थी। इस आंदोलन की शुरूआत ऐक्टिविस्ट मेधा पाटेकर, बाबा आम्टे, आदिवासियों, किसानों और सोशल वर्कर से मिलकर की थी। यह आंदोलन दुनिया भर में सुर्खियाँ बटोरी। आंदोलनकारियों ने नदी को बचानें के लिए 130 मीटर बाँध की ऊंचाई कम करके 88 मीटर करने की मांग की। सुप्रीम कोर्ट ने हालांकि बांध के लिए 90 मीटर की अनुमति दी।

पर्यावरण संरक्षण और झारखण्ड की जनजातीय महिलाएँ

इतिहास है कि झारखण्ड की महिलाओं का विदेशी हुकूमत से अपनी धरती माँ की रक्षा के लिए महत्वपूर्ण योगदान रहा है। आज से 400 साल पूर्व झारखण्ड की उरांव जनजाती की वीर महिलाओं ने अपनी सांस्कृतिक धरोहर रोहतास गढ़ के दुर्ग की रक्षा हेतु अपने परम्परागत हथियार तीर–धनुष से लैस होकर सैनिक वेशभूषा धारण कर उन्हें खदेड़ने में विजय हासिल की थी।झारखण्ड की आदिवासी महिलाओं का बलिदान अतुल्य है। उन्होंने सिद्धू–कान्हू ,तिलका मांझी के आन्दोलन के साथ ही बिरसा के उलगुलान और जतरा टाना आन्दोलन में अपनी सांस्कृतिक धरोहर जंगल–जमीन के हक के लिए पुरूषों के साथ कंधा से कंधा मिलाकर ब्रिटिशों के छक्के छुड़ा दिये।झारखण्ड के जंगलों में अवैधपातन को रोकने के लिए ग्रामीण एवं जंगलों के आस–पास निवास करनेवाली महिलाओं में वृक्षों को भाई मानने की सोच विकसित हुई है। वे वृक्षों को राखी की जगह लाल कपड़े/ सूता बाँध उनका सम्मान करती हैं। झारखण्ड के जंगल बहुल क्षेत्र–कोडरमा, गिरीडीह, हजारीबाग, विष्णुगढ़ एवं अब राँची में वृक्षों की रक्षा बन्धन की पहल यहाँ की ग्रामीण महिलाओं ने शुरू की।

झारखण्ड के जमशेदपुर की कांदोरी सोरेन जिसे जंगल की शेरनी नाम से जाना जाता है। वह वनों की सुरक्षा 12 साल पहले से ही कर रही है। उसने करीब 45 महिलाओं की टीम बना रखी है। वह अपनी महिलाओं के साथ मिलकर करीब 100 हेक्टेयर में फैले वन क्षेत्र की रक्षा करती है। वह पेड़ों के काटने की खबर पर ही जंगल की ओर दौर पड़ती है। शेरनी की दहाड़ जैसी आवाज मारकर वह वन माफियाओं को सचेत करती हैं कि वे जंगल को छोड़ दे।

झारखण्ड की 37 वर्षीय जमुना टुडु पिछले दो दशकों से वनों की कटाई के खिलाफ जंग लड़ रही है। आज उनकी वन सुरक्षा समिति में 60 सक्रिय महिला सदस्य हैं जो सुबह, दोपहर, शाम बारी–बारी से जंगल में गश्त लगाती हैं। जमुना की यह लड़ाई बेकार नहीं गई। वन संरक्षण के प्रयासों के लिए भारत के राष्ट्रपति ने उन्हें सम्मानित किया।

पर्यावरण संरक्षण के प्रयास

हमारे भारत देश में 1950 में भारतीय संविधान लागु हुआ था परंतु पर्यावरण संरक्षण पूरे तरीके से नहीं जुड़ा था।1972 में स्टाकहोम कान्फ्रेंस के बाद पर्यावरण संरक्षण के प्रति देश में जागरूकता बढ़ी है और सरकार ने 1976 में संविधान में संशोधन कर नया अनुच्छेद 48**A**तथा 51**A**(**G**) जोड़

दिए गए। 48**A**अनुंच्छेद सरकार को यह निर्देश देता है कि वह पर्यावरण की सुरक्षा करें तथा उनमें सुधार का काम करें। 51**A**(**G**) अनुच्छेद नागरिकों के लिए है किवह हमारे पर्यावरण की रक्षा करे। इस सिद्धान्त के द्वारा भारत के हर नागरिक का यह मौलिक कर्त्तव्य हो गया किवह पर्यावरण की सुरक्षा एवं उसमें परिष्कार करे।

1972 ई० में पर्यावरण संरक्षण पर अनेक कानून बने हैं,जो निम्न हैः–

1 वन्य जन्तु संरक्षण एक्ट,1972

2 जल(प्रदूषण निवारण एवं नियंत्रण) एक्ट, 1974

3 वन (संरक्षण) एक्ट, 1980

4 वायु (प्रदुषण एवं नियंत्रण), 1981

5 पर्यावरण (संरक्षण) एक्ट, 1986

निष्कर्षः–

मानव की बढ़ती हुई गतिविधियों ने पर्यावरणीय समस्यायें पैदा की हैं तथा पर्यावरण को प्रदूषित किया है।हमारा उद्देश्य यह होना चाहिए कि हम ऐसे पर्यावरण का निर्माण करें जो हमारे जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ–साथ एक रहने लायक स्वच्छ–सुंदर स्थान का भी निर्माण करे। इसलिए पर्यावरण का विवेकपूर्ण उपयोग किया जाना चाहिए। जिन प्राकृतिक संसाधनों का संरक्षण मानव जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण है, ऐसे प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग समय–समय पर बंद कर दिया चाहिए। आज जब पर्यावरणीय समस्याएँ बढ़ गईं है, तो लोग इसके संरक्षण को लेकर चिंतित हैं। इसके लिए हमें जनजातियों से, उनकी परंपरा, रीति–रिवाज, पर्व–त्योहार, अनुष्ठान से सीखने तथा अपनाने की आवश्यकता है। बिना जनजातियों के प्रकृति को बचाना संभव नहीं। पर्यावरण संरक्षण में जनजातीय महिलाओं की भूमिका अहम है क्योंकि घर की सारी जिम्मेदारी महिलाओं की ही होती है तथा वे प्रकृति के करीब होती हैं। इसके अलावा जन चेतना की आवश्यकता है। जन चेतना तथा वृक्षारोपण के माध्यम से पर्यावरणीय तत्वों को संरक्षण प्रदान कर इसे अवनयन एवं प्रदूषण से रोका जा सकता है।

संदर्भ सूची

1.शर्मा , वी. के. (2012), *पर्यावरण की चुनौतियाः समस्याएँ तथा समाधान,* आर्या पब्लिकेशन, दिल्ली।

2.दिवान,रेणु (2004), *झारखण्ड की महिलाएँ,* बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना।

3.सिन्हा, अनुज कुमार (2019), *झारखण्ड के आदिवासी पहचान का संकट,* प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली।

4.पाठक, गणेश कुमार,(1995), *पर्यावरण संरक्षण में महिलाओं की भूमिका,*, योजना, जुलाई।

5.मैत्री, विकास (2009), झारखण्ड का *आदिवासी समाज एवं संस्कृति,* कार्यशाला परआधारित विवेचना, विकास मैत्री प्रकाशन, राँची, झारखण्ड।

6.रघुवंशी,कमलेश (2013), *और कितना वक्त चाहिए झारखण्ड को?*, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली।

समकालीन परिदृश्य में महात्मा जोतिराव फूले के विचारों का समाज वैज्ञानिक मूल्यांकन

डॉ० सत्य प्रकाश गुप्त
एसोसिएट प्रोफेसर–समाजशास्त्र
का० सु० साकेत स्नातकोत्तर महाविद्यालय अयोध्या,उ०प्र०
प्रियंका पासवान
शोध छात्रा–समाजशास्त्र
का० सु० साकेत स्नातकोत्तर महाविद्यालय अयोध्या,उ०प्र०

भारतीय समाज विविधताओं से परिपूर्ण है। धर्म, जाति, लिंग, भाषा, क्षेत्र के आधार पर असमानता, भेदभाव एवं शोषण भारतीय समाज की आदि परम्परा में विद्यमान रही है। इन परम्परागत व्यवस्थाओं के कारण समाज का एक वृहद् जनसमूह विभिन्न तरह के अधिकारों से न केवल वंचित रहा बल्कि इनके ऊपर परम्परागत रुप में सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक व अन्य निर्योग्यताओं को लाद दिया गया। इनमें सर्वाधिक अमानवीय, असामाजिक तथा अनैतिक असमानताएं तथा निर्योग्यताएं अश्पृश्यता की संस्था में निहित थीं। उच्च हिन्दू जातियों की पवित्रता एवं अपवित्रता के अंधविश्वास के कारण अत्यन्त पिछड़ी एवं दलित जातियों को समाज से बहिष्कृत किया गया जिसके कारण उन्हें पशुवत् जीवन जीने को विवश होना पड़ा। परम्परागत सामाजिक व्यवस्था में महिलाओं को अधिकार शून्य कर दिया गया जिससे उनकी संपूर्ण प्रगति अवरुद्ध हो गयी थी। इन विभिन्न निर्योग्यताओं के परिणामस्वरुप शूद्र, अतिशूद्र और महिलाओं की स्थिति अत्यन्त दयनीय हो गई और ये वर्ग समाज की मुख्यधारा से पूरी तरह से अलग हो गये। भारत में इन समस्याओं को दूर करने वाले चिन्तकों, मनीषियों, समाज सुधारकों की एक सुदीर्घ परम्परा रही है। महात्मा बुद्ध, गुरुनानक, कबीर, रविदास, तुकाराम, नारायण गुरु तथा सूफी मतावलम्बियों आदि ने समाज में व्याप्त कुरीतियों, अंधविश्वासों, असमानताओं तथा भेदभाव को दूर करने का प्रयास किया। इनमें से एक समाज प्रबोधक, सुधारक, प्रगतिशील चिन्तक, लेखक, दार्शनिक, समाजसेवी, स्त्री शिक्षा के प्रबल समर्थक तथा क्रान्तिकारी कार्यकर्ता थे, महात्मा जोतिराव गोविन्दराव फुले। महात्मा फुले ने स्त्रियों को अधिकार दिलाने के लिए संघर्षपूर्ण प्रयत्न किया। महात्मा फुले वास्तव में मानव–मानव में भेदभाव के विरुद्ध थे तथा वे एक प्रगतिशील समाज की स्थापना करना चाहते थे जिसमें असमानता, भेदभाव, शोषण जैसी अप्राकृतिक, अमानवीय एवं उत्पीड़न जैसी व्यवस्था के लिए कोई स्थान न हो।

महात्मा जोतिराव फुले ने भारतीय समाज की परम्परात्मकता को चुनौती दी, जिसने सदियों से भारतीय सामाजिक संरचना की परिवर्तनीयता (गतिशीलता) को स्थिर बना दिया था परिणाम स्वरुप समाज की प्रगति अवरुद्ध हो गयी थी। शूद्रों, अतिशूद्रों एवं महिलाओं को सम्मानजनक प्रस्थिति प्रदान करने के लिए फुले अनवरत जीवनपर्यन्त संघर्ष करते रहे। 1848 में उन्होंने पुणे में अछूतों के लिए एक विद्यालय की स्थापना की। यह भारत के ज्ञात इतिहास में अपनी तरह का पहला विद्यालय बना। 1857 में महात्मा फुले ने बालिकाओं के लिए एक पृथक विद्यालय खोला जो भारत में बालिकाओं की शिक्षा के लिए प्रथम विद्यालय था। इस विद्यालय में शिक्षा प्रबंध करने हेतु जब कोई अध्यापक नहीं मिला तो जोतिबा फुले की पत्नी सावित्री बाई फुले आगे आयीं। अपने इस प्रगतिशील

एवं क्रान्तिकारी कार्यों के कारण जोतिबा फुले और सावित्रीबाई को तरह–तरह के कष्ट उठाने पड़े। उन्हें बार–बार घर बदलने पड़े, फुले की हत्या तक के प्रयास किये गये पर वे अपने सदमार्ग पर अडिग रहे। अपने इस महान उद्देश्य को संस्थागत रुप प्रदान करने के लिए जोतिबा फुले ने महाराष्ट्र में "सत्य शोधक समाज" नामक संस्था का गठन किया। इसके अन्तर्गत यह महत्त्वपूर्ण स्थापना की कि महार, कुनबी, माली आदि शूद्र कही जाने वाली जातियाँ कभी क्षत्रिय थीं जो जातिवादी षड्यन्त्र के कारण दलित कहलायीं।

महात्मा जोतिराव गोविन्द राव फुले का जन्म 11 अप्रैल 1827 को खानवाड़ी, पूणे महाराष्ट्र में हुआ था। इन्हें महात्मा फुले, जोतिबा फुले, जोतिराव फुले के नाम से भी जाना जाता है। बचपन से ही फुले ने समाज में व्याप्त जातिगत असमानता, भेदभाव का सामना किया। फुले समाज की कुप्रथा, अन्धश्रद्धा के ताने–बाने से समाज को मुक्त करना चाहते थे। इन्होंने बाल–विवाह का विरोध तो किया ही, साथ ही साथ विधवा पुनर्विवाह का समर्थन भी किया। वर्ण आधारित असमानता व विशेषाधिकार का फुले ने मुखर विरोध किया। 19वीं सदी में स्त्रियों को शिक्षा नहीं दी जाती थी। फुले स्त्रियों को स्त्री–पुरुष के भेदभाव से बचाना चाहते थे। स्त्रियों की तत्कालीन दयनीय स्थिति से फुले बहुत व्याकुल और दुःखी होते थे। इसीलिए उन्होंने दृढ़ संकल्प किया कि वे समाज में क्रान्तिकारी, प्रगतिशील परिवर्तन लाकर रहेंगे। महात्मा जोतिराव फुले ने सार्वभौमिक मूल्यों को स्थापित करने मे महती भूमिका निभाई। इनके विचार न केवल सार्वभौमिक हैं बल्कि सार्वकालिक भी हैं।

महात्मा जोतिराव फुले सामाजिक परम्परात्मकता को नवीनता, वैज्ञानिकता, तार्किकता, नवोन्मेषता एवं प्रगतिशीलता के रुप में परिवर्तित करना चाहते थे। उन्होंने अपनी वैचारिक दृढ़ता, अदम्य धैर्य व साहस के साथ शूद्रों, अतिशूद्रों एवं महिलाओं के ऊपर होने वाले विविध भेदभावों को दूर करने का प्रयास किया। महात्मा फुले का मानना था कि यूरोप के नवजागरण ने नवीन, वैज्ञानिक विचारों को जन्म दिया है जिसे अपनाकर ही हम अपने समाज की परम्परात्मक स्थिरता (जड़ता) को दूर कर समाज को प्रगति के पथ पर ले जा सकते हैं। फ्रांसीसी क्रान्ति हो या इंग्लैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति, इन महत्वपूर्ण घटनाओं ने हमें आइना दिखाने का कार्य किया है। स्वतंत्रता, समानता, बंधुत्व जैसे नवीन विचारों के द्वारा समाज में व्याप्त विभिन्न अतार्किक, अमानवीय, अन्धविश्वास, आडम्बर, व अन्य विभिन्न कुरीतियों को समाप्त कर सकते हैं। भौतिक उत्पादन को बढ़ाकर समाज में आर्थिक असमानता को दूर कर सकते हैं। वर्तमान भारतीय समाज में जातिवादी संकीर्णता, शोषण, उत्पीड़न, ईर्ष्या व धार्मिक आडंबर के साथ नकारात्मकता में वृद्धि हो रही है।

वर्तमान सामाजिक व्यवस्था का अवलोकन करने पर हमें यह ज्ञात होता है कि महात्मा फुले के विचार आज के परिप्रेक्ष्य में और भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं क्योंकि वर्तमान समाज में अनैतिकता, असमानता, भेद–भावपरक आचरण, जातिवादी मानसिकता में वृद्धि, महिलाओं के प्रति हिंसा की घटनाएं समाज में निरन्तर बढ़ रही हैं। ऐसे में सामाजिक व्यवस्था की प्रगति के मार्ग अवरुद्ध हो गये प्रतीत होते हैं। स्वतन्त्रता, समानता, बन्धुत्व की भावना में कमी, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं धार्मिक आधार पर भेदभाव, अन्याय ऐसी स्थितियाँ हैं जो महात्मा फुले के विचारों की प्रासंगिकता को अत्याधिक बढ़ा देती है। वस्तुतः वैचारिक नवीनता, नवोन्मेषी विचार, प्रगतिशील विचार, वैज्ञानिक विचार, तार्किक विचार, समतामूलक विचार फुले के पर्याय हैं।

महात्मा जोतिराव फुले के मौलिक चिन्तन का उद्देश्य समाज में सुधार लाना था। वे समाज में रुढ़िगत विचारों के स्थान पर वैज्ञानिक एवं तार्किक विचारों को स्थापित करना चाहते थे। महात्मा फुले का मानना था कि समाज की अवरुद्ध प्रगति को वैज्ञानिक एवं तार्किक आधार पर ही गतिशील रुप प्रदान किया जा सकता है। फुले का मत था कि जैसे–जैसे समाज में वैज्ञानिक एवं तार्किक विचारों का प्रचार–प्रसार बढ़ेगा वैसे–वैसे समाज में व्याप्त रुढ़िवादिता, अन्धविश्वास, भेद–भाव, असमानता व संकीर्णतावादी सोच में कमी आयेगी। शिक्षा के द्वारा नैतिक एवं मानवीय गुणों का विकास होगा। समाज में लोगों का दूसरे मनुष्यों के प्रति एवं जीवों के प्रति करुणा, दया, परोपकार जैसे संवेदनशील गुणों का विकास होगा। पर्यावरण की सुरक्षा को लोग अपना नैतिक कर्तव्य मानेंगे तथा धार्मिक एवं सांस्कृतिक आधार पर व्याप्त अवैज्ञानिकता से लोग ऊपर उठ सकेंगे, और इस रुप में समाज की आध्यात्मिक प्रगति होगी। व्यक्तियों के द्वारा दूसरों के मानवाधिकारों का हनन तथा अतिक्रमण नहीं होगा जिससे सौहार्द्रपूर्ण एवं सद्भावनापूर्ण सामाजिक पर्यावरण निर्मित होगा।

वर्ष 2019–2020 में व्याप्त वैश्विक महामारी (कोविड–19) के संकट में महात्मा जोतिराव फुले के विचारों की प्रासंगिकता अत्याधिक बढ़ जाती है क्योंकि जिस प्रकार से समाज में असमानता, भेदभाव और संकीर्ण विचारों का वातावरण निर्मित हो रहा है, उसे दूर करने के लिए महात्मा फुले के विचार अत्यन्त सम सामयिक और प्रासंगिक हैं। महात्मा फुले ने महात्मा बुद्ध के "अप्प दीपो भव" (अपना दीपक स्वयं बनो) की अवधारणा को समाज में अपनाने पर बल दिया। जिससे समाज आत्मनिर्भर बन सके, और सबकी प्रगति सुनिश्चित हो सके। समाज की छोटी–छोटी उत्पादक इकाईयाँ हो और उनमें काम करने वाले लोगों की कुशलता का मापन हो। जो व्यक्ति जिस कार्य में निपुण हो उसे उसके अनुरुप कार्य उपलब्ध कराया जाये। इस प्रकार महात्मा फुले का मानना था कि इससे ग्रामीण क्षेत्रों में लोगों को उनके कौशल के अनुरुप कार्य मिल जायेगा और वे जीविकोपार्जन के लिए बड़े–बड़े शहरों की ओर पलायन नहीं करेंगे। यद्यपि भारत सरकार ने मनरेगा (MGNREGA) और **प्रधानमंत्री कौशल विकास कार्यक्रम** इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु संचालित किया है परन्तु कार्यक्रमों के उचित क्रियान्वयन का अभाव योजना की सफलता पर प्रश्न चिन्ह लगाता है।

उत्तर भारत में कतिपय राजनैतिक एवं सामाजिक संगठनों ने महात्मा जोतिराव फुले के नाम को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है, परन्तु वह पर्याप्त नहीं है। इनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व के समाजशास्त्रीय विश्लेषण की और भी अधिक आवश्यकता है, जिससे उत्तर भारत के समाज को भी इनके विचारों से लाभान्वित किया जा सके। अध्ययन का एक दृष्टिकोण यह भी है कि भारतीय ग्रामीण समुदाय की सामाजिक एवं आर्थिक संरचना अत्यन्त चिन्ताजनक है। एक तरफ समाज के एक बड़े वर्ग को जहाँ उनके परिश्रम के अनुरुप उन्हें सम्मान नहीं मिलता है। वहीं दूसरी तरफ आर्थिक रुप से उनका शोषण भी किया जाता है। ऐसी परिस्थिति में भारतीय समाज में लोगों के मध्य सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, वैज्ञानिक, मानवीय गुण एवं नव–परिवर्तन के लिए अभिप्रेरित करना अत्यन्त आवश्यक है। महात्मा जोतिराव फुले के विचार देश और समाज को आत्मनिर्भर एवं स्वावलम्बी बनाने के लिए वांछनीय है। महात्मा फुले के विचारों के प्रचार–प्रसार की वर्तमान सन्दर्भ में महती आवश्यकता है, जिससे एक तार्किक, वैज्ञानिक एवं प्रगतिशील समाज की स्थापना की जा सके। वर्तमान सरकारों को राष्ट्रहित, समाजहित में नीतियों के निर्माण में महात्मा फुले के विचारों से सहायता मिलेगी और एक प्रगतिशील, समावेशी समाज का निर्माण हो सकेगा।

सन्दर्भ–ग्रंथ–सूची :

1. अम्बेडकर, बी०आर०, (1946), हू वेयर शूद्राज, बम्बई : थैकर एण्ड कम्पनी।
2. आर्य, जियालाल, (2006), जोतीपुंज महात्मा फुले, नई दिल्ली : प्रकाशन संस्थान।
3. आगलावे, सरोज (2005), जोतीराव फुले का सामाजिक दर्शन, नई दिल्ली : सम्यक प्रकाशन।
4. जगताप, मुरलीधर (2007), सामाजिक क्रान्ति के अग्रदूत महात्मा जोतिबा फुले, दिल्ली : गौतम बुक सेन्टर।
5. पंजम, एस०के० (2011), शूद्रों का प्राचीनतम इतिहास, दिल्ली : दिव्यांश पब्लिकेशंस।
6. प्रभाकर, वैद्य (1982), महात्मा फुले और उनकी परम्परा, मुम्बई : लोक वाड्मय गृह।
7. फुले, जोतिराव (1873), गुलामगिरी (अनु० डॉ० अनिल सूर्य 2007), दिल्ली : गौतम बुक सेण्टर।
8. फुले जोतिराव (1885), सत्सार, (अनु०डॉ० संजय गजभिये, 2010), नई दिल्ली : सम्यक प्रकाशन।
9. पाण्डेय, राम शकल (2015), शिक्षा के दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय आधार, आगरा : अग्रवाल पब्लिकेशन।
10. बेसन्तरी, देवेन्द्र कुमार (2004), भारत के सामाजिक क्रान्तिकारी, नई दिल्ली : दलित साहित्य प्रकाशन संस्था।
11. रुहेला, एस०पी० एवं देवेन्द्र (2003), शिक्षा के समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य, नई दिल्ली : आर्य बुक डिपो।
12. साथी, छेदीलाल (2012), दलित व पिछड़ी जातियों की स्थिति, नई दिल्ली : सम्यक प्रकाशन।
13. सिंह, राम गोपाल (2006), सामाजिक न्याय एवं दलित संघर्ष, जयपुर : राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी।
14. सिंह, आर०जी० (1986), भारतीय दलितों की समस्यायें एवं उनका समाधान, भोपाल : मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी।
15. श्रीवास्तव, के० सी० (2007), प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति, इलाहाबाद : यूनाईटेड बुक डिपो।
16. बौद्ध, शान्ति स्वरुप (2008), जोतिबा फुले की अमर कहानी नई दिल्ली : सम्यक प्रकाशन।
17. गौतम एस०एस०, (2008), महात्मा फुले ने कहा, दिल्ली : गौतम बुक सेण्टर।

व्यवसायिक प्रवास का समाजशास्त्रीय अध्ययन : राँची नगर निगम के विशेष संदर्भ में

सुनीला एक्का
शोध छात्रा
स्नातकोत्तर समाजशास्त्र विभाग,
राँची विश्वविद्यालय, राँची।

शोध सार :–

प्रवास – आदिकाल से ही मानव घुमन्तु प्रवृत्ति का रहा है। वह भूमि एवं साधनों की खोज हेतु महामारियों, युद्ध, अत्याचार, भेदभाव के कारण तथा उन्नत जीवन की आशा में एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाकर बसता रहा। इस तरह जनसंख्या के प्रवास का इतिहास अत्यंत प्राचीन एवं विश्वव्यापी रहा है। मानव ही क्यों, पशु–पक्षी भी सही मौसम और भोजन की तलाश में दूसरे स्थान पर प्रवास करते हैं। मानव की प्रवास की प्रक्रिया मानव सभ्यता के इतिहास से जुड़ी हुई है। प्रवास शब्द का प्रयोग उन आवासीय परिवर्तनों के लिए किया जाता है, जिनका संबंध पूर्णतया किसी व्यक्ति के सामुदायिक संबंधों में सम्पूर्ण परिवर्तन एवं पूर्ण सामंजस्य से होता है। भारत में भी कभी आर्य आये थे, फिर कुछ मुस्लिम सल्तनत आई, मुगल आये, जो यहीं के हो गये। अंग्रेज आये जो बहुत वर्षों तक राज करके वापस चले गए। औद्योगीकरण एवं विकासवादी प्रशासन के फैलाव से मध्यम वर्ग के विभिन्न श्रेणियों में विस्तार हुआ है, इसमें सिविल एवं व्यवसायिक सेवाएँ, मंत्रालय सेवाएँ, सेना एवं पुलिस सेवाएँ सम्मिलित हैं। इसमें स्वनियोजित व्यावसायिक व्यापारी भी सम्मिलित हैं। मध्यकाल के दौरान भारत में आकस्मिक एवं तीव्र गति से शहरीकरण हुआ। इस काल में काफी संख्या में प्रशासनिक, सैनिक, विनिर्माण तथा व्यापारिक उत्पादन केन्द्र फले–फूले। इस काल के दौरान इन कस्बों और शहरों में बहुत से उद्योग–धंधे अत्यधिक विकसित हुए। औद्योगीकरण ने शहरों एवं कस्बों के विकास, संपत्ति, संयुक्त परिवार, कानून, परम्परागत व्यवसाय एवं जाति व्यवस्था को प्रभावित किया है। जिससे गाँवों से शहरों की तरफ प्रवास बढ़ा है।

मुख्य शब्द :– प्रवास, श्रमिक, बेरोजगारी, औद्योगीकरण, शिक्षा।

डॉ० एस०सी० दूबे – प्रवास सामाजिक परिवर्तन की वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा जनसंख्या का अन्तर्गमन व बहिर्गमन होता है।

प्रो० थाम्पसन एवं **लेविस** ने लिखा है कि ''प्रवास के लिए उत्तरदायी कारक आर्थिक तथा गैर आर्थिक दोनों ही हो सकते हैं। सामान्यता आर्थिक प्रवास स्वैच्छिक होते हैं, जबकि गैर आर्थिक प्रवास अनैच्छिक एवं बलात् (Forced Migration) होते हैं। जब व्यक्तियों को धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक अथवा अन्य किसी आधार पर यातना दी जाती है या परेशान किया जाता है तो वे इस यातना से बचने के लिए स्थान छोड़ना ही उपयुक्त समझते हैं। परन्तु इन दोनों प्रकार के कारकों में आर्थिक कारक ही अधिक महत्वपूर्ण है।''[1]

झारखण्ड में प्रवास मुगलकाल के स्थापना काल से होने लगी थी। सन् 1106 ई० में जब मुगलों का भारत में आधिपत्य स्थायित्व हुआ था तो उन्होंने जमींदारी प्रथा की शुरुआत की और यहाँ पर बाहर के लोगों को मालगुजारी वसूलने के लिए बसाया गया और स्थानीय शासन की बागडोर

सौंपी गयी, लेकिन यह प्रवास अस्थायी तौर पर होती रही है, लेकिन जब शेरशाह सूरी ने सन् 1538 ई० में रोहतासगढ़ पर आक्रमण किया तो वहाँ की आदिवासियों (उराँव जनजातियों) की प्रवास सोन नदी के किनारे–किनारे वर्तमान झारखण्ड क्षेत्र में होने लगा, लेकिन यह प्रक्रिया एक बार होने के बाद स्थिर हो गयी थी और प्रवास निम्न थी। जब मुगल शासन को समाप्त कर ब्रिटिश शासकों का शासन व्यवस्था स्थापित हुई, तब अंग्रेजों का झारखण्ड में ढालभूम के रास्ते से सन् 1767 ई० में प्रवेश हुआ एवं ब्रिटिश हुकूमत अपने शासन चलाने के लिए अपने साथ सैनिक एवं सरकारी कर्मचारियों को साथ में लाया जो अधिकांश लोग यहीं के प्रवासित होकर रह गये। राँची जिला का अस्तित्व सर्वप्रथम सन् 1899 में आया, जब लोहरदगा को अनुमण्डल बनाकर राँची को जिला बनाया गया। ज्ञात हो कि सन् 1833 में दक्षिण पश्चिमी सीमांत एजेंसी प्राप्त करने के बाद ब्रिटिश प्रशासकों ने छोटानागपुर में तीन जिले बनाए – हजारीबाग, मानभूम और लोहरदगा। उसमें से लोहरदगा का मुख्यालय उस समय शेरघाटी में रखा गया था, जिसे सन् 1843 में लोहरदगा लाया गया और सन् 1852 में आवास राँची ले आया गया, किन्तु जिला के रूप में विधिवत् घोषणा सन् 1899 में की गयी। बाद में सन् 1983 में राँची जिला को काटकर ही गुमला जिला का निर्माण हुआ। वर्ष 2007 में इसी से खूँटी जिला का निर्माण किया गया। राँची जिला में 1538 में शेरशाह द्वारा रोहतासगढ़ में आक्रमण के बाद उराँवों का प्रवास कोयल नदी घाटी क्षेत्र में प्रवेश हुआ था। राँची का ऐतिहासिक महत्व सुतियाम्बे में मदरा मुण्डा की राजधानी होने से है, जो कालान्तर में नागवंशियों को हस्तांतरित की जाती है। इसके बाद यह राजधानी चुटिया तथा खुखरा ले जायी जाती है, जो ब्रिटिश शासनकाल में लोहरदगा जिला का हिस्सा था। सन् 1852 में राँची की नींव किशुनपुर में रखी गयी, जब लोहरदगा से मुख्यालय हटाकर यहाँ ले आया गया और सन् 1969 में राँची को नगरपालिका का दर्जा प्राप्त हुआ। आँकड़े स्पष्ट करते हैं कि सन् 1872 में राँची की जनसंख्या 12641 थी, उस समय तक यह प्रशासकीय नगर था। प्रशासकीय कार्य के अतिरिक्त यहाँ की मंडी और बाजार संग्रह केन्द्र की तरह कार्य करते थे। जहाँ से ग्रामीणों को आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त होती थी और धीरे–धीरे नगर के रूप में विकसित होने लगी, जिससे आसपास के ग्रामीण एवं अन्य व्यवसायिक पेशा वाले लोग, जो अपने कार्यों में विशेषज्ञ प्राप्त थे, कार्य की उपलब्धता के चलते एवं शहरी तथा आधुनिक सुविधा प्राप्त करने के लिए राँची के नजदीक आगमन प्रारम्भ हो गया और जनसंख्या में वृद्धि होती गयी। सन् 1891 की जनगणना में भी राँची और चाईबासा में 25 प्रतिशत वृद्धि दर्ज की गयी थी। यही स्थिति 1911 की जनगणना में भी थी। सन् 1921, 1931, 1941, 1951, 1961 की जनगणना में राँची की जनसंख्या वृद्धि दर सामान्य थी, लेकिन 1961 से 1971 की दशक में वृद्धि दर राँची की 84.39 प्रतिशत थी, जो सन् 1958 में औद्योगिक नगर के रूप में स्थापित हुई। यहाँ सोवियत संघ की सहायता से भारी मशीनरी उद्योग (एच.ई.सी.) की स्थापना की गयी, जिससे प्रवास की दर में बहुत ज्यादा वृद्धि हुई। ग्रामीण प्रवास एवं अन्तर्राज्यीय प्रवास हुई। यही कारण है कि सन् 1981 की जनगणना में सर्वाधिक वृद्धि राँची में 86.71 प्रतिशत दर्ज की गयी, जो नगरीय जनसंख्या के रूप में हुई थी। श्रमिकों के साथ–साथ व्यवसायिक प्रवास भी हुई। सन् 1991 की जनगणना में राँची में यह वृद्धि दर 21.28 प्रतिशत थी, वर्ष 2001 की जनगणना में राँची की जनसंख्या वृद्धि दर अप्रत्याशित रही और यहाँ की जनसंख्या वृद्धि 10,00,000 से अधिक हो गयी एवं राँची को नगर निगम का दर्जा प्राप्त हुआ और सम्पूर्ण राँची को 53 वार्डों में विभाजित कर यहाँ नागरिक सुविधा उपलब्ध करायी जा रही है। राँची को प्रशासनिक नगर के रूप में स्थापित होने के पश्चात् प्रशिक्षित व्यवसायिक

(Profession) व्यक्ति का प्रवास प्रारम्भ हुआ, जो किसी न किसी व्यवसाय के विशेषज्ञ थे एवं शिक्षित व्यक्ति थे। यहाँ मूलतः बंगाल के व्यक्तियों का आगमन प्रारम्भ हुआ। इस जिला मुख्यालय में अन्य सरकारी कार्यालय की स्थापना की गयी। ब्रिटिश शासकों के द्वारा पुलिस छावनी की स्थापना की गयी थी, जिसमें सैनिक एवं अफसर ग्रेड के व्यक्तियों का प्रवास हुआ। इसी के साथ पटना हाई कोर्ट का राँची बेंच का न्यायालय भी स्थापित किया गया। जिसमें काम करने वाले कर्मचारी एवं इस पेशे से जुड़े व्यवसायिक पेशे वकीलों का प्रवास हुआ जो कानून की बारीकियों को समझाते थे एवं केस लड़ते थे। इस व्यवसायिक पेशा से जुड़े हुए व्यक्तियों का बंगाल के समृद्ध लोगों का व्यवसायिक प्रवास हुआ। जब यहाँ लोगों की संख्या ज्यादा हो गयी, तो कारोबारी वर्ग के लोगों का भी राँची में प्रवास हुआ, जो मूलतः राजस्थान के मारवाड़ी लोग थे, जो वस्तु कारोबारी में संलग्न थे। प्रशासनिक मुख्यालय होने के कारण स्वास्थ्य केन्द्रों की स्थापना हुई, जिससे डॉक्टरी पेशा से जुड़े लोगों का व्यवसायिक प्रवास प्रारम्भ हुआ। सन् 2000 में राँची को झारखण्ड राज्य की राजधानी घोषित किया गया, जिससे अन्य व्यवसाय में जुड़े व्यक्तियों का प्रवास में तीव्रता आयी एवं जनसाधारण लोगों का भी बेहतर जीवन जीने के उद्देश्य से राँची में प्रवास प्रारम्भ होने लगा।[2]

प्रवास को राष्ट्रीय स्तर पर दो भागों में बांटा जा सकता है –

1. अन्तर्राष्ट्रीय प्रवास (International Migration)
2. आन्तरिक प्रवास (Internal Migration)

अन्तर्राष्ट्रीय प्रवास – जब कोई व्यक्ति या समुदाय एक राष्ट्र की सीमा लांघकर दूसरे राष्ट्र में जाकर बस जाता है अथवा कुछ काल के लिए निवास करता है,
तो ऐसे प्रवास को अंतर्राष्ट्रीय प्रवास कहते हैं। इस प्रकार के प्रवास में भाषा, संस्कृति, व्यवसाय आदि कुछ न कुछ बदल जाते हैं या स्थायी प्रवास के संदर्भ में ये सब पूर्णतः बदल जाते हैं।

आन्तरिक प्रवास – जब किसी देश के निवासी अपने देश की सीमाओं के अन्तर्गत एक स्थान से दूसरे स्थान पर चले जाते हैं, तो उनका यह स्थानान्तरण आन्तरिक प्रवास कहलाता है।

1. **गाँव से नगर प्रवास –** विकासशील देशों में गाँव से नगर की ओर होने वाला प्रवास अधिक है। गाँव से लोग नगर की ओर इन देशों में मुख्य दो कारण से प्रवास कर रहे हैं। पहला, रोजगार के उपयुक्त एवं कम अवसर होने के कारण गाँव छोड़ने के लिए बाध्य होना पड़ता है। दूसरा, शहरी चकाचौंध गाँव वालों को आकर्षित कर रही है। सघन आबादी वाले ग्रामीण क्षेत्रों से औद्योगिक विकास वाले शहरी क्षेत्रों की ओर यह प्रवास रोजगार के लुभावने अवसरों के कारण अधिक हो रहा है। गाँवों के प्रति अलगाव बढ़ने के प्रमुख कारक हैं – गाँवों में व्याप्त बेरोजगारी, निम्न व अनिश्चित मजदूरी, सेवाओं और सुविधाओं का अभाव, कृषि जोत का छोटा होना। कई बार सुरक्षा व्यवस्था की कमी, खराब लेन–देन व्यवस्था, जातिगत भेदभाव व सामंतवादी नजरियों के कारण भी लोग गाँव से शहर में आकर बस रहे हैं। बड़ी संख्या में शिक्षित युवा वर्ग रोजगार की तलाश में औद्योगिक प्रतिष्ठानों व प्रशासनिक सेवाओं में रोजगार पाने भी जा रहा है। इसका अर्थ यह हुआ कि भारी संख्या में यह प्रवास आर्थिक कारणों से ही हो रहा है।

2. **नगर से नगर प्रवास –** नगर से नगर प्रवास उच्च नगरीय विकास वाले राष्ट्रों से अधिक है, साथ ही विकासशील देशों के उच्च वर्गों में भी यह प्रवृत्ति देखने को मिलती है। धनी देशों

में अधिकांश लोग शहरों में ही रहते हैं। शहर से शहर प्रवास अधिकतर आर्थिक कारणों से ही होता है। वहाँ बड़े नगर प्रवासियों के मुख्य आकर्षण बिन्दु है। वहाँ दूसरे लोग प्रवास करते हैं। नगर से नगर प्रवास आर्थिक कारणों से अधिक प्रेरित होता है तथा इसमें समय एवं दूरी का कोई अवरोध
नहीं है।

3. **गाँव से गाँव प्रवास** – खेतिहर देशों में ग्रामीण क्षेत्र से ग्रामीण क्षेत्र का प्रवास अधिक महत्वपूर्ण है। भारत जैसे कृषि प्रधान देश में बदलते ग्रामीण रोजगार प्रतिरुप की वजह से जनसंख्या में क्षेत्रीय पुनर्वितरण की प्रवृत्ति बढ़ रही है। इस प्रवास का भी उद्देश्य आर्थिक है।

4. **नगर से गाँव प्रवास** – ऐसा प्रवास उच्च नगरीय विकास वाले देशों में ज्यादा है, क्योंकि यह नगरीय क्षेत्रों की भीड़–भाड़ व पर्यावरण प्रदूषण से छुटकारा पाने
के एक तरीके के रुप में साधन सम्पन्न धनी वर्ग द्वारा विकसित देशों में अपनाया जाता है।[3]

व्यवसायिक प्रवास – भारत में ब्रिटिश शासन द्वारा एक नई आर्थिक व राजनीतिक व्यवस्था लागू की गई, जिसके लिए आधुनिक कानून, प्रौद्योगिकी चिकित्सा, अर्थव्यवस्था, प्रशासनिक विज्ञान आदि में प्रशिक्षित भारतीयों की आवश्यकता हुई। इसके लिए उन्होंने आधुनिक शिक्षण संस्थाओं, कानूनी, वाणिज्यिक तथा सामान्य शिक्षा देने वाले विद्यालय एवं महाविद्यालयों तकनीकी प्रशिक्षण संस्थानों आदि की स्थापना की। इस प्रकार विस्तृत व्यवसायिक वर्ग अस्तित्व में आया। इस प्रकार की सामाजिक श्रेणियों को आधुनिक उद्योग, कृषि, वाणिज्य, प्रशासन, प्रेस तथा सामाजिक जीवन के अन्य क्षेत्रों से जोड़ा गया। व्यवसायिक व अन्य क्षेत्रों से जोड़ा गया। व्यवसायिक वर्ग के अन्तर्गत आधुनिक वाणिज्यिक एवं अन्य उद्यमों में कार्यरत प्रबंधक व अन्य सरकारी प्रशासन तंत्र में कार्यरत अधिकारी, इंजीनियर, तकनीशियन, कृषि वैज्ञानिक, पत्रकार आदि आते हैं। राष्ट्रीय आंदोलन में इस वर्ग की भूमिका निर्णायक थी। वस्तुतः ये लोग नेतृत्वकर्त्ता के रूप में उभरे, जिन्होंने देश में प्रगतिशील सामाजिक एवं धार्मिक सुधार आंदोलन में अपना सक्रिय योगदान दिया। स्वतंत्रता के बाद भारत में तीव्र औद्योगिकीकरण एवं शहरीकरण की प्रक्रिया में उद्योगों, व्यापार एवं वाणिज्य निर्माण, यातायात तथा अन्य कई आर्थिक गतिविधियों के फलस्वरुप वृहत स्तरीय रोजगार के अवसर खुले। इसी के साथ सरकार ने पूरे देश में जटिल प्रशासनिक ढाँचे से बनी विशाल संस्थात्मक संरचना का निर्माण किया। इसने बहुत बड़े पैमाने पर योग्यता पर आधारित रोजगार तथा प्रशासनिक अधिकारी, प्रबंधकीय अधिकारी, तकनीकी प्रबंधक, चिकित्सक, वकील, शिक्षक, पत्रकार आदि उत्पन्न किये, जिसके कारण इन व्यवसायिक वर्गों की संख्या व आकार में तेजी से वृद्धि हुई है। इनके काम की स्थिति तथा अन्य शारीरिक श्रम करने वालों से अधिक अच्छी होती है। परन्तु उच्च वर्ग से कम होती है। इनके काम की स्थिति तथा पदोन्नति के अवसरों में भी पर्याप्त अंतर होता है। इस वर्ग के लोगों की जीवनशैली भी भिन्न होती है। ये सभी लोग मिलकर मध्यम वर्ग को विस्तृत कर रहे हैं। आर्थिक विकास के साथ शहरी क्षेत्रों में लघु व्यापारियों तथा दुकानदारों
में एक और वर्ग का विकास हुआ है। ये लोग वस्तुओं व माल के उत्पादकों तथा उपभोक्ताओं के मध्य कड़ी हैं और माल तथा वस्तुओं के क्रय–विक्रय के मध्य के लाभ
पर जीविकोपार्जन करते हैं।[4]

आई०ई० मर्फी एवं **जे०ई० वांस** ने अपनी पुस्तक 'नगरीय भूगोल' में परिभाषित करते हुए लिखा है कि ''केन्द्रीय व्यवसायिक क्षेत्र जिसे सी.वी.डी. के नाम
से जाना जाता है, नगर का हृदय स्थल होता है। यहाँ फुटकर व्यापार और कार्यालयों
की सघनतम रूप, नगर में सर्वाधिक भूमि मूल्य और ऊँचे भवनो का भूदृश्य देखने को मिलता है।'' झारखण्ड राज्य के राँची शहर में विशेष रूप से प्रवास देखने को मिल रहा है। झारखण्ड राज्य बनाने के बाद राँची शहर को राजधानी बनाया गया, तब से प्रवास अत्यधिक देखा जा रहा है। राँची एक विकसित शहर है और यहाँ सारी सुविधाएँ उपलब्ध है, जो व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह को इस ओर खींच रही है। सन् 1958 के दशक में हैवी इंजीनियरिंग कार्पोरेशन (एच.ई.सी.) की स्थापना के साथ ही तात्कालिक दक्षिण बिहार में रोजगार के नये–नये अवसर खुले। कालान्तर में रोजगार के और भी कई नये अवसर के रास्ते खुले।[5]

''नगरों के निकट गांवो में रहने वाले श्रमिक सुबह होते ही स्टेशन से लेकर शहर की सड़कों पर जहाँ–तहाँ मेहनत–मजदूरी या व्यापार करते दिखाई देते हैं। ऐसे लोग जो दैनिक रुप से हर दिन राँची आते हैं, ऐसे लोगों की संख्या अधिक है, जो अधिकतर छोटी–छोटी नौकरियाँ करते हैं, जो प्रायः अकुशल श्रमिक के रूप में कार्यरत रहते हैं। सामान्य तौर से अपने घरों से ही आना–जाना करते हैं जो ग्रामीण–नगरीय सातत्य क्षेत्र के होते हैं। झारखण्ड के शहरों में सब्जी उत्पादन का बड़ा विक्रय केन्द्र है। इस व्यवसाय में कुछ वर्ग स्वयं उत्पादित करता है, जो खुदरा व्यवसाय करता है और कुछ वर्ग थोक व्यवसाय कार्य करते हैं, जो सामान्यतः गांवों से शहरों में आकर व्यवसाय करते हैं। कच्चे पदार्थ के अलावा कुछ वैसे वस्तुएँ होती है, जो कुटीर उद्योगों द्वारा निर्मित वस्तु को भी बिक्री केन्द्र के रूप में शहरी बाजार उपलब्ध हो जाती है, जो परिवार इस कार्य में संलग्न है, वह यहाँ आकर व्यवसाय कार्य करते हैं, जो छोटे शहरी एवं ग्रामीण होते हैं।''[6]

''प्रवास को प्रभावित करने वाले अनेक कारक हैं।

1. आकर्षक कारक (Pull Factors)
2. प्रत्याकर्षण कारक (Push Factors)

आकर्षक कारक के अन्तर्गत निम्नलिखित अवसर प्रदान करते हैं, जिसके कारण प्रवास होता है –

- आर्थिक प्रगति के अधिक अवसर
- रोजगार के अवसर
- उच्च शिक्षा प्राप्ति के अवसर
- वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक परम्पराओं के अवसर
- सुरक्षा एवं न्याय के अवसर
- जीवन स्तर सुधारने के अवसर
- स्वास्थ्यप्रद वातावरण में रहने के अवसर।

प्रत्याकर्षण कारक के अन्तर्गत निम्नलिखित परिस्थितियाँ प्रदान करती है, जो निम्नलिखित है –

- रोजगार सुविधाओं का अभाव

- स्वास्थ्य सुविधाओ का अभाव
- गरीबी, निम्न जीवन स्तर का होना
- सुरक्षा एवं न्याय की कम सुविधाएँ
- उच्च शिक्षा, तकनीकी शिक्षा सुविधा का प्रभाव
- परम्परावादी एवं रूढ़िवादी संस्कृति का प्रभाव
- रोजगार की कठिन परिस्थितियों का होना।''[7]

प्रवास को प्रभावित करने वाले कारकों में निम्नलिखित तत्व महत्वपूर्ण होते हैं –

- **प्राकृतिक कारक** – प्राकृतिक अथवा भौगोलिक कारणों से प्रायः लोग प्रवास करते हैं। प्राकृतिक कारकों के अन्तर्गत जलवायु संबंधी परिवर्तन, प्राकृतिक प्रकोप, सूखा, बाढ़, महामारियाँ, भूकम्प, ज्वालामुखी आदि घटनाएँ होती हैं जो प्रवास को प्रोत्साहित करती है। कुछ विद्वानों का विचार है कि मध्य एशिया में जब शुष्कता बढ़ गयी तो वहाँ से आर्य लोग चारों दिशाओं की ओर जाने लगे। इन्हीं की एक शाखा तुर्किस्तान, अफगानिस्तान होते हुए भारत की ओर बढ़ गयी। जहाँ निरन्तर ज्वालामुखी फूटते रहते हैं तथा भूकम्प के झटके आते रहते हैं। वहाँ से जनसंख्या सुरक्षित स्थानों की ओर स्थानान्तरित होने लगती है। उपजाऊ मिट्टी भी जनसंख्या को आकर्षित करती है तथा अनुपजाऊ मिट्टी जनसंख्या के स्थानान्तरण को बढ़ावा देती है। यही कारण है कि मानव सभ्यता का विकास एवं संकेन्द्रण नदियों की घाटियों एवं उपजाऊ दोनों क्षेत्रों में हुआ।
- **सामाजिक कारक** – प्रवास के लिए सामाजिक रीति–रिवाज तथा परम्पराएँ भी उत्तरदायी होती है। जैसे – विवाह के उपरान्त लड़कियाँ अपने पति के घर चली जाती हैं तथा उसका पति यदि किन्हीं कारणों से प्रवासित होता है तो साथ– साथ उसे भी जाना पड़ता है। संयुक्त परिवार प्रथा प्रवास के मार्ग में बाधक थी, परन्तु आज इस पारिवारिक अशांति तथा गृह कलेश से मुक्ति पाने के लिए व्यक्ति घर से बाहर रहने का प्रयास करता है। शिक्षा, स्वास्थ्य, मानसिक विकास एवं बच्चों के उज्जवल भविष्य की कामना भी व्यक्ति को गाँव से शहर में प्रवास हेतु प्रेरित करती है।
- **आर्थिक कारक** – प्रवास को प्रोत्साहित करने वाले कारकों में आर्थिक कारक सबसे महत्वपूर्ण है। लोग सूखी एवं समृद्धशाली जीवन व्यतीत करने की लालसा में अपने मूल एवं स्वाभाविक निवास को छोड़कर अन्यत्र जा सकते हैं। प्रवास को प्रोत्साहित करने वाले कुछ प्रमुख आर्थिक कारक निम्नलिखित हैं –
  - (क) कृषि योग्य भूमि का अभाव – किसी देश की भूमि पर उसकी जनसंख्या का अधिक भार होने से उस देश में खाद्य सामग्री का अभाव हो जाता है, जिसके कारण मानव भोजन की प्राप्ति हेतु उन स्थानों की ओर प्रवास करता है, जहाँ कृषि योग्य भूमि सहजता से उपलब्ध हो जाती है। भारत में केरल तथा बंगाल से अन्य राज्यों की ओर प्रवास इसी प्रकार के कारणों से हुआ।
  - (ख) औद्योगीकरण – औद्योगीकरण भी प्रवास को प्रोत्साहित करता है। औद्योगीकरण से रोजगार के अवसरों में वृद्धि होती है, जिसकी तलाश में लोगों को गाँवों से शहरों की ओर प्रवासित होना पड़ता है। औद्योगीकरण से नगरीकरण को बढ़ावा मिलता है,

लोग नगरों में उपलब्ध विभिन्न सुविधाओं यथा – मनोरंजन, सुरक्षा, स्वास्थ्य सेवाओं की सुलभता आदि से आकृष्ट होकर वहाँ बसने लगते हैं।

(ग) सामान्य आर्थिक स्थिति में सुधार – रोजगार के अवसर तथा आर्थिक स्थिति में सुधार की लालसा में लोग अनेक कठिनाईयों के बावजूद प्रवास के लिए प्रोत्साहित होते हैं।

- **जनांकिकीय कारक** – जिन स्थानों पर जनसंख्या का दबाव अधिक होता है, वहाँ से जनसंख्या का प्रवास उस तरफ होता है, जहाँ जनसंख्या का दबाव अपेक्षाकृत कम होता है। प्रवास जनसंख्या के गुणात्मक पहलू पर भी निर्भर करता है। यदि किसी स्थान विशेष पर अधिक लोग हैं, परन्तु वे किसी कार्य विशेष के लिए अकुशल हैं तो वहाँ के लिए कुशल व्यक्तियों को अन्यत्र से प्रवासित करना आवश्यक हो जाता है। प्रवास पर जन्म दर तथा मृत्यु दर का भी प्रभाव पड़ता है।
- **राजनीतिक कारक** – अनेक राजनीतिक निर्णय भी प्रवास को प्रभावित करते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में नए उद्योगों की स्थापना एक राजनैतिक निर्णय होता है, ताकि ग्रामीण क्षेत्रों से नगरों की ओर प्रवास को कम किया जा सके।[8]

निष्कर्ष :– प्रवास को प्रोत्साहित करने वाले आर्थिक कारक सबसे महत्वपूर्ण हैं। लोग सुखी और समृद्धशाली जीवन व्यतीत करने की लालसा में अपने मूल एवं स्वाभाविक निवास छोड़कर अन्य जगह जा बसते हैं। प्रवास जनसंख्या परिवर्तन की महत्वपूर्ण प्रक्रिया है, इससे किसी क्षेत्र की जनंसख्या में वृद्धि अथवा ह्रास होता है। प्रवास सांस्कृतिक प्रसारण का साधन है, इससे दो संस्कृतियों का समन्वय होता है। भिन्न सभ्यता, संस्कृति वाले लोग मिलकर रहते हैं, जिससे बहुभाषीय, बहुजातीय तथा बहुधर्मी समाज का निर्माण होता है। विशिष्ट योग्यता संपन्न जैसे इंजीनियर, डॉक्टर, वैज्ञानिक, कलाकार, संगीतज्ञ आदि का स्थानान्तरण होने पर प्रवासित क्षेत्र में विकास की गति तेज होती है। प्रवास एक सतत् एवं सामान्य प्रक्रिया है। दरिद्रता, बेरोजगारी, पाश्रिमिक, स्वास्थ्य, शिक्षा, मनोरंजन तथा अन्य सेवाओं की खोज में नगरों की ओर प्रवास करते हैं।

झारखण्ड राज्य की स्थापना के बाद राँची शहर की जनसंख्या में तीव्र गति से वृद्धि हुई है। इसके पीछे एक ही कारक स्पष्ट होते हैं, वह है राँची झारखण्ड राज्य की राजधानी का होना। इसके साथ ही साथ राँची शहर एक औद्योगिक शहर के रूप में प्रसिद्ध है।

संदर्भ ग्रंथ सूची :–

1. गुप्ता, एम०एल० एवं शर्मा, डी०डी० (2005) : ग्रामीण तथा नगरीय समाजशास्त्र, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा, पृष्ठ संख्या–216.
2. वीरोत्तम, डॉ० बी० (2015) : झारखण्ड : इतिहास एवं संस्कृति, बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना, पृष्ठ संख्या–220.
3. चान्दना, डॉ० आर०सी० (2014) : जनसंख्या भूगोल, लेजर टाइपसैटिंग : एलीट आर्ट, दरियागंज, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या–279–280.

4. सिंह, योगेन्द्र (1987) : डेवलपमेंट इन इंडिया : कन्टीन्यूटीज एण्ड कंट्राडिक्शंस इन के०एस० शुक्ला (संपा०), द अंडर साइड ऑफ डवलपमेंट, सेज पब्लिकेशन्स, इंडिया, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या–57–59.
5. राव, डॉ० वी०पी० एवं शर्मा, डॉ० नन्देश्वर (2009) : नगरीय भूगोल, वसुंधरा प्रकाशन, गोरखपुर, पृष्ठ संख्या–88.
6. कुरुक्षेत्र (2014) : ग्रामीण विकास को समर्पित, सितम्बर, पृष्ठ संख्या–14–15.
7. मिश्रा, डॉ० जे०पी० (2009) : जनांकिकी, साहित्य भवन पब्लिकेशन, हॉस्पीटल रोड, आगरा, पृष्ठ संख्या–301–302.
8. गुप्ता, एम०एल० एवं शर्मा, डी०डी० (2005) : ग्रामीण तथा नगरीय समाजशास्त्र, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा, पृष्ठ संख्या–219.

Journal of Socio-Educational & Cultural Research, Vol. 6, No. 13, July-Dec., 2020 ISSN : 2394-2878

महिलाओं के विकास में स्वयं सहायता समूह की भूमिकाः एक समाजशास्त्रीय विश्लेषण

(राँची जिला के नामकुम प्रखण्ड के विशेष संदर्भ में)

डॉ. मिथिलेश कुमार

एसोसिएट प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष,

स्नातकोतर समाजशास्त्र विभाग, राँची विश्वविद्यालय, राँची।

सरांश

स्वयं सहायता समूह वर्तमान समय में महिलाओं के विकास में महती भूमिका निभा रहे हैं। जिसमें महिलाओं को संगठित होकर अपने व्यवसायिक कार्यों से संबंधित निर्णय लेने हेतु प्रोत्साहित किया जाता है। स्वयं सहायता समूह की अवधारणा इस बात पर निर्भर करती है कि गरीबों को संगठित करने तथा उन्हें स्वयं गरीबी उन्मूलन के लिए प्रयास करने हेतु प्रेरित किया जाये। स्वयं सहायता समूह एक समान सोच, पृष्ठभूमि तथा उद्देश्य वाले सदस्यों के छोटे समूह/संगठन हैं जो अपनी सामूहिक क्षमताओं से अपनी समस्याओं का निदान के लिए प्रयत्नशील होते हैं। यह समूह सामाजिक–आर्थिक सकारात्मक परिवर्तन तथा सशक्तिकरण के मंच हैं, जिनके माध्यम से असंगठित गरीब वर्ग संगठित होकर अपने सामाजिक आर्थिक विकास के उद्देश्य को प्राप्त करते हैं। चूंकि विकासशील/अविकसित समाज में अत्यधिक श्रमशक्ति प्राथमिक सेक्टर व सेवा क्षेत्र में संलग्न रहती हैं एवं ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करती हैं, इसलिए यह ध्यान रखना आवश्यक है कि उनका संगठन कैसा हो, क्या आकार हो तथा उसके सामने क्या उद्देश्य है। यह आवश्यक है कि उनके अपने 'एकरूपी' छोटे–छोटे समूह हों जिन्हें वह स्वयं संभाल सकें तथा उनका कुशल प्रबंधन कर सकें। यह बात पुनः ध्यान देने योग्य हे कि समूह का आकार व स्वरूप का निर्धारण पूर्णतः इस बात पर निर्भर करता है कि गरीब अपने समूह का बिना दूसरों पर निर्भर किए हुए प्रबंधन कर सकें व अपने सामूहिक प्रयासों को उत्पादनोमुखी बना सकें। विशेषज्ञों ने यह भी अनुभव किया है कि समूह का आकर ऐसा होना चाहिए कि उन्हें प्रारम्भ में औपचारिक परिवेश से बाहर रखा जा सके। अनुभव बताते हैं कि समूह में 15–20 सदस्यों का आकार आसानी में संगठित रखा जा सकता है और उन्हें औपचारिक पंजीयन आदि की आवश्यकता भी नहीं होती। समूह के स्वरूप निर्धारण के लिए भी 'एकरूपता' की अवधारणा प्रमुख है अर्थात् सदस्यों का समान पृष्ठभूमि एवं समान समस्याएं सदस्यों को एक साथ उठने–बैठने में तो मदद करती ही है साथ ही उनमें सर्वमान्य निर्णय लेने की प्रक्रिया को भी प्रोत्साहित करती है।

इस षोध पत्र के माध्यम से महिला सशक्तिकरण में स्वयं सहायता समूह के योगदान को विश्लेषित करते हुए प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

मुख्य बिंदू– स्वयं सहायता समूह, महिला सशक्तिकरण, लघु उद्योग, गृह उद्योग, कृषि।

भूमिका

स्वयं सहायता समूह समान पृष्ठभूमि वाले सदस्यों का एक समान उद्देश्य के लिए गठित समूह है जो समूह में एकरूपता परिलक्षित करता है। यह एकरूपता आर्थिक, सामाजिक, जातिगत,

क्षेत्रगत अथवा समान समस्या के फलस्वरूप हो सकती है। "समूह का आकार 15–20 सदस्यों का होता है जो इस बात पर निर्भर करता है कि समूह में कुशल प्रबंधन की क्या संभावना विद्यमान है अर्थात् समूह किस आकार में संगठित रह सकता है। 20 से अधिक सदस्यों वाले समूह का पंजीयन अनिवार्य होता है अतएव अनौपचारिक को बनाए रखने के लिए आवश्यक है कि सदस्य संख्या 20 से अधिक न हो।"[1]

समूह के अपने नियम उपनियम होते हैं जो कि सदस्यों द्वारा सर्वसम्मति से निर्धारित किए जाते हैं जिसके आधार पर समूह बैठकों व अपनी गतिविधियों को नियंत्रित करता है। यद्यपि अनौपचारिक समूह के नाते लिखित प्रपत्रों का होना आवश्यक नहीं है परन्तु चूँकि समूह को अन्य संगठनों से भी व्यवहार करना पड़ता है अतएव कार्यवाहियों एवं हिसाब–किताब को पुस्तकों में अंकित किया जाता है। यह वैसे भी समूह के भीतर विश्वसनीयता बनाए रखने में सहायक होता है। समूह अपने नियमों के अनुरूप अपने प्रतिनिधियों का चयन करता है जो कि समूह की ओर से विभिन्न प्रतिनिधित्व करते हैं जैसे बैंक में कार्यवाही के लिए प्रतिनिधित्व व अन्य संगठनों से लेन–देन के लिए प्रतिनिधित्व। सामान्यतः समूह अपना अध्यक्ष, कोषाध्यक्ष व सचिव चयनित करते हैं। चूंकि समूह गरीब वर्ग के सदस्यों का होता है जो कि सदियों से असंगठित रहे है तथा उनमें आर्थिक क्रियाकलापों का ज्ञान अत्यन्त सीमित है अतएव साथ उठने–बैठने के लिए प्रेरित करने हेतु तथा आर्थिक लेन–देन हेतु प्रशिक्षित करने के लिए बचत क्रियाकलाप आवष्यक रूप से प्रोत्साहित किया जाता है। समूह नियमित बचत के माध्यम से ही अपने अल्प संसाधन जुटाता है।

आपसी समझ को मजबूत करने तथा एकता को प्रबल करने के लिए आपसी ऋण/आंतरिक ऋण भी स्वयं सहायता समूहों की पहचान बन कर उभरा है। आंतरिक ऋण द्वारा समूह के सदस्य साहूकारों के चंगुल से भी मुक्त हो जाते हैं। समूह द्वारा बैंक से संबंध स्थापित किए जाते हैं एवं बैंक में अपने खाते के संचालन के साथ–साथ ऋण सुविधा भी प्राप्त की जाती है जिससे समूह के संसाधनों में वृद्धि होती है तथा समूह को आर्थिक क्रियाकलाप प्रारम्भ करने का आधार प्राप्त हो जाता है। समूह अपने सदस्यों के आर्थिक उन्नतिकरण के लिए उत्पादक ऋण प्रदान करता है साथ ही सामूहिक रूप से आर्थिक क्रियाकलापों का संपादन करता है जिसमें प्रत्येक सदस्य को उसकी क्षमता अनुसार कार्य प्राप्त हो जाता है। समूह आर्थिक क्रियाकलापों के साथ–साथ सामाजिक समस्याओं के निवारण में अधिक कारगर सिद्ध हुए हैं। अपने सदस्यों के हितों में सामुदायिक सम्पत्तियों का निर्माण, उनका रख–रखाव करना तथा लोकहितकारी कार्य करना भी इनकी विशेषता रही है।

स्वयं सहायता समूह की परिभाषा

झा (2001) ने बताया कि "महिला स्वयं सहायता समूह आत्म–प्रयास और आत्मनिर्भरता की भावना महिलाओं के बीचपैदा करने में मदद करते हैं। एसएचजी महिलाओं के लिए विचारों, अनुभवों और विचारों का आदान–प्रदान करने के लिए एक मंच को सक्षम करने में मदद करता है। उन्होंने आगे बताया कि एसएचजी भी कौशल हासिल करने और आत्मविश्वास पैदा करने के अवसरों की भावना को बढ़ावा देने में योगदान करते हैं।"[2]

भाटिया और भाटिया (2002) ने कहा कि "लक्ष्य उन्मुख दृष्टिकोण,नाबार्ड द्वारा जिसे अब अपनाया गया है, यह विविध समूहों के गुणवत्ता पहलुओं का त्याग करने का जोखिम उठाता है।"[3]

अशोकन एम रंगनाथन (2008) ने अपने अध्ययन में बताया कि "महिला एसएचजी सदस्यों द्वारा अनुभव की जाने वाली प्रमुख समस्याओं में है, बैंक खाता खोलने में कठिनाई और उसे पूरा करने के लिए प्रोत्साहन की कमी।"[4]

नायर और गिरिजा (2005) ने खुलासा किया कि "एसएचजी की बड़ी बाधा जो उन्हें इस तरह के गठन से रोकती है उनमें समूहों में उनकी शक्तिहीनता शामिल है। एकता की कमी और नेतृत्व के गुण भी महत्वपूर्ण योगदान करते हैं।"[5]

स्वयं सहायता समूह आर्थिक व सामाजिक परिवर्तन का एक मंच बनकर उभरे हैं जिनके माध्यम से जागरूकता लाकर सदस्यों की क्षमता का पर्याप्त विकास कर विभिन्न आर्थिक व सामाजिक परियोजनाओं को सफल किया गया है।

स्वयं सहायता समूह की उपयोगिता

संगठित होने के लिए आवश्यक है कि संगठन के अपने कुछ नियम हों एवं उन नियमों के अनुसार संगठन का संचालन हो। समूह गठन के समय ही समूह के नियम सदस्यों द्वारा अपनी स्वेचछा से निर्धारित किए जाते हैं जिनमें प्रमुख है, अधिकतम व न्यूनतम सदस्य संख्या, सदस्य की योग्यता, सदस्यता शुल्क, समूह के उद्देश्य, समूह के क्रियाकलाप, समूह की बैठक का समय, स्थान व अंतराल, प्रतिनिधित्व, बचत धनराशि, बचत अंतराल, बचत न करने पर दण्ड, ऋण के नियम व दण्ड राशि इत्यादि। इस प्रकार समूह का स्वरूप व आकार निर्धारित हो जाता है।

समूह सदस्यों में क्या क्षमताएं है? उनका अभिज्ञान कैसे हो एवं किस प्रकार इनका विकास हो? इसके लिए सर्वप्रथम उनमें एकता, आपसी समझ तथा नेतृत्व क्षमता विकसित की जाती है। समूह प्रतिनिधियों के चयन व समय–समय पर परिवर्तन द्वारा उनकी नेतृत्व क्षमता का विकास किया जाता है। समूह में नियमित बैठक हो और बैठक में सभी समस्याओं पर विस्तृत व बेझिझक चर्चा हो इसके लिए आवश्यक है कि समूह के पास बैठक के लिए कोई नियमित क्रियाकलाप हो। नियमित बचत एवं आपसी आंतरिक ऋण इसका सबसे बेहतर माध्यम है। जिसके द्वारा सदस्यों में नियमित बैठक की आदत विकसित हो जाती है। वैसे भी आर्थिक संबंधी क्रियाकलाप सभी सदस्यों का ध्यान खींचने का सबसे अच्छा माध्यम है एवं आपसी घरेलू जरूरतों के लिए ऋण के लेनदेन से सदस्यों में एकता व आपसी समझ का बंधन विकसित होता है। इसीलिये समूह में ऋण बचत क्रियाकलाप आवश्यक रूप से प्रोत्साहित किए जाते है। इसीलिये समूह में ऋण बचत क्रियाकलाप आवश्यक रूप से प्रोत्साहित किए जाते है जिनके संबंध में नियम समूह के नियमों के साथ ही विकसित किए जाते हैं। ऋण–बचत क्रियाकलाप के लेन–देन से सदस्यों में क्षमता भी विकसित की जाती है कि वह आपस में बैठकर आर्थिक व्यवहारों के विभिन्न पहलुओं को समझें। इस प्रकार प्रारम्भिक काल में इन क्रियाकलापों के माध्यम से नियमित बैठक, नियमित बचत व ऋण क्रियाकलाप तथा सामूहिक निर्णय को प्रोत्साहित किया जाता है जो यह परिलक्षित करता है कि सदस्यों में आपसी समझबूझ, आर्थिक व्यवहार व लेन–देन की क्षमता तथा सामूहिक निर्णय की क्षमता विकसित हो चुकी है।

स्वयं सहायता समूह के विकास की अवस्थायें

समूह के पूर्ण विकास की अवस्था लगभग तीन साल मानी जाती हैं जिस अवधि में यह स्वाश्रयी हो पाता है अर्थात् अपने सदस्यों को सहयोग पहुंचाने में स्वयं सक्षम हो जाता हैं। इस अवधि तक समूह को विभिन्न मार्गदर्शकों की आवश्यकता अवश्य होती है परन्तु लगभग तीन साल

की अवधि में समूहों के अपने विकसित संपर्कों के फलस्वरूप, समूहों में आपसी लेनदेन प्रारम्भ हो जाते हैं तथा उनके अपने संकुल व संघ विकसित हो जाते हैं। यह वह स्थिति होती है जबकि समूहों का संगठन सामाजिक व आर्थिक विकास का भाग बन जाता है एवं अन्य नए समूहों के विकास के लिए उनका अपना संगठन स्वयं सक्षम होता है।

"इस प्रकार स्वयं सहायता समूह के विकास को विभिन्न तीन चरणों में विभाजित किया जा सकता है"[6] :–

1. गठन व निर्माण अवस्था
2. विकास अवस्था
3. स्वाश्रयी अवस्था

गठन व निर्माण की अवस्था में समूह में अनुकूल डायनामिक्स विकसित होती है और समूह अपनी एकता को सुदृढ़ करता है जिसके अनुरूप व्यवहार संपादित होते हैं जैसे आंतरिक बचत, आंतरिक ऋण, आपसी समस्याओं का निबटारा आदि। विकास की अवस्था में समूह वाह्य जगत से संबंध स्थापित करता है और सदस्यों की क्षमता निर्माण व विकास के लिए कार्य करता है। इसी अवधि में समूह सदस्यों के हितों के लिए सामुदायिक परियोजनाओं का मूर्त रूप देता है। समूह अपने संगठन जैसे संकुल व संघ विकसित करता है और सामाजिक व आर्थिक सशक्तीकरण की ओर अग्रसित होता है। समूह के विकास का तीसरा चरण है स्वाश्रयिता। जब स्वयं सक्षम होकर परियोजनाओं को स्वाश्रयी बनाता है तथा अपने सदस्यों के विकास की दिशा स्वंय निर्धारित करता है। समूह इस अवस्था को प्राप्त करने के उपरान्त आत्मनिर्भर बनकर औपचारिक संगठन बन जाते हैं।

महिलायें एवं स्वयं सहायता समूह

स्वयं सहायता समूह, जिनमें आवश्यक रूप से ऋण–बचत क्रियाकलाप प्रोत्साहित किए जाते हैं गरीबी की आवश्यकता अनुरूप सूक्ष्म ऋण पहुंचाने का एक उपयुक्त माध्यम है। किए गये प्रयासों व अध्ययनों से यह सिद्ध हुआ है कि "यद्यपि गरीबों के पास ऋण को जमानत/रहन स्वरूप देने को कुछ नहीं होता, परन्तु उनमें ऋण वापसी की आदत अपेक्षाकृत अधिक होती है और वह जानबूझकर ऋण अनादयगी कभी न हीं करते। महिला स्वयं सहायता समूहों के अनुभव तो अत्यन्त विस्मयकारी रहे हैं और उनमें शत–प्रतिशत ऋण वसूली पाई गयी है।"[7] महिलाओं के समाज के प्रति अपेक्षाकृत अत्यधिक जिम्मेदार व संवेदनशील पाया गया है और देखा गया है कि आपसी एकता के फलस्वरूप समूह में यदि कोई सदस्य ऋण अदा करने में समर्थ नहीं है तो भी और सदस्यों की सहायता व समझबूझ से बैंक को ऋण अदायगी समय से की गई। सूक्षम ऋण को गरीबों तक पहुंचाने में तथा गरीबों को साहूकारी व्यवस्था के शोषक चंगुल से बचाने में स्वयं सहायता समूहों की अहम भागीदारी है। सूक्ष्म ऋण का भी स्वयं सहायता समूहों में एक विशेष योगदान है। इसके माध्यम से सदस्य अपनी अल्प अर्जित बचत से एक–दूसरे की ऋण आवश्यकता को पूरी करते है। उनकी रोजमर्रा की ऋण आवश्यकताओं में शामिल होता है भोजन, कपड़ा, व्यवसाय, बीमारी का इलाज, शादी, ब्याह, त्योहार व पर्व आदि की जरूरतों के लिए ऋण। ऐसी जरूरतों को अपनी अल्प बचत से पूरा करने के परिणामतः आपसी समझ व सद्भाव में वृद्धि होती है। स्वयं सहायता समूह के माध्यम से आपसी सूझबूझ व विश्वास के फलस्वरूप किए गये ऋण व्यवहारों की अदायगीतो शत–प्रतिशत पाई ही गई है साथ ही उनमें बढ़ी जागरूकता के

फलस्वरूप ऋण का बेहतर उपयोग की क्षमता भी विकसित होती है, साथ ही आपसी तालमेल के कारण यदि कोई कठिनाई भी आती है तो सदस्य मिलकर उनका समाधान निकाल लेते है और समय पर ऋण अदायगी सुनिश्चित करते है। स्वयं सहायता समूह ऋण का एक माध्यम बनकर उभरे है जिनके माध्यम से गरीब से गरीब सदस्य की प्रत्येक ऋण जरूरत घरेलू तथा उत्पादक दोनों ही पूरी हो जाती है। गरीब वर्ग के पास जमानती तौर पर देने के लिए कुछ नहीं होता जिसके अभाव में ऋण प्राप्त नहीं कर पाते। समूह के माध्यम से वह अपनी पारदर्शी आपसी तालमेल की छवि की जमानत के आधार पर संस्थागत स्रोत से ऋण प्राप्त करता है। "संस्थागत ऋण ढांचा विशाल होने के कारण भी यह प्रत्येक सदस्य को सूक्ष्म ऋण उपलब्ध नहीं करा सकता क्योंकि प्रति व्यक्ति कार्य संपादन के कारण प्रतिशत में वृद्धि होती है। स्वयं सहायता समूहों के माध्यम से अपनी से अधिकांश सदस्यों तक ऋण पहुंचाकर लाभान्वित किया जा सका है और इससे प्रति व्यवहार में कमी आई है।"[8] इस प्रकार सूक्ष्म ऋण के लिए स्वयं सहायता समूह सहयोगी वाहक बनकर उभरे हैं।

स्वयं सहायता समूह और महिला आत्मनिर्भरता

गरीब विशेषकर महिलाएं समूह के माध्यम से अपनी समस्याओं के निदान के लिए सामूहिक प्रयास कर सकती हैं व समाधान पा सकती है। पाया गया है कि गरीबों व महिलाओं में यह समूह अत्यंत सफल रहे हैं। जिसके अंतर्गत निम्न व्यवस्थायें पायी गयी हैं–

- ऐसी सामूहिक समस्याएं, जिनका अन्यथा हल अत्यंत मुश्किल है, समूह के माध्यम से आसनी से सुलझाई जा सकती है।
- आपसी समझ में बढ़ोतरी के फलस्वरूप, बड़ी से बड़ी सामूहिक समस्या का सर्वमान्य समाधान समूहों के माध्यम से संभव हो पाया है।
- गरीबों की क्षमता के समूह के माध्यम से पहचाना जा सकता है तथा उसे विकसित किया जा सकता है।
- समूह के माध्यम से गरीबों के पास उपलब्ध अल्प संसाधनों का अनुकूलतम उपयोग संभव है जिसका लाभ प्रत्येक सदस्य तक पहुंचता है।
- समूह के माध्यम से ही व्यापक स्तर पर रोजगार गरीबों को उपलब्ध कराए जा सकते हैं।
- समूह के माध्यम से गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों के लाभ निर्धनतम लोगों तक पहुंचाये जा सकते है तथा ऐसे प्रयासों की निरन्तरता बनाई जा सकती है।
- समूह के माध्यम से सामाजिक विकास कार्यक्रमों के क्रियान्वयन को अधिक प्रभावी बनाया जा सकता है तथा इसे कम लागत में करके इसमें अधिकाधिक भागीदारी सुनिश्चित कराई जा सकती है।

अध्ययन क्षेत्र

"रांची कर्क रेखा के पास 23°22′छ 85°20′पर स्थित है। शहर 175 किमी 2 (68 वर्ग मील), के क्षेत्र को कवर करता है और इसकी औसत ऊंचाई समुद्र तल से 651 मीटर है। रांची छोटा नागपुर पठार के दक्षिणी भाग में स्थित है, जो दक्कन के पठार का पूर्वी भाग है।रांची में एक पहाड़ी स्थलाकृति है और इसके घने उष्णकटिबंधीय जंगलों का एक संयोजन है जो राज्य के

बाकी हिस्सों की तुलना में अपेक्षाकृत मध्यम जलवायु पैदा करता है। हालांकि, शहर के अनियंत्रित वनों की कटाई और विकास के कारण औसत तापमान में वृद्धि हुई है।"[9]

2011 की भारत की जनगणना के अनुसार, रांची नगर निगम की जनसंख्या 1,073,427 है, शहरी समूह की जनसंख्या 14,56,528 थी जो इसे भारत में 32वां सबसे अधिक आबादी वाला शहरी समूह बनाता है। पुरुष जनसंख्या का 52.1 प्रतिषत और महिलाएं 47.9 प्रतिषत हैं। रांची की औसत साक्षरता दर 87.68 प्रतिशत है।रांची को रांची और बुंडू उपखंडों में विभाजित किया गया है और प्रत्येक उपखंड को आगे ब्लॉक, पंचायत और गांवों में विभाजित किया गया है। इसमें 18 ब्लॉक और 305 पंचायत शामिल हैं। रांची उपखंड के तहत, 14 ब्लॉक हैं और बुंडू उपखंड में 4 ब्लॉक हैं।

नामकुम प्रखंड

2011 की जनगणना के अनुसार रांची जिले के नामकुम ब्लॉक की कुल जनसंख्या 145,841 है। इनमें से 74,142 पुरुष हैं जबकि 71,699 महिलाएं हैं। 2011 में नामकुम ब्लॉक में कुल 28,756 परिवार रहते थे। "नामकुम प्रखंड का औसत लिंगानुपात 967 है। 2011 की जनगणना के अनुसार कुल जनसंख्या में से 19.1 प्रतिषत लोग शहरी क्षेत्रों में रहते हैं जबकि 80.9 प्रतिषत लोग ग्रामीण क्षेत्रों में रहते हैं। शहरी क्षेत्रों में औसत साक्षरता दर 87.8 प्रतिषत है जबकि ग्रामीण क्षेत्रों में यह 70.3 प्रतिषत है। साथ ही नामकुम ब्लॉक में शहरी क्षेत्रों का लिंग अनुपात 879 है जबकि ग्रामीण क्षेत्रों का 989 है। नामकुम प्रखंड में 0–6 वर्ष की आयु के बच्चों की जनसंख्या 20814 है जो कुल जनसंख्या का 14 प्रतिषत है। 0–6 वर्ष की आयु के बीच 10493 पुरुष बच्चे और 10321 महिला बच्चे हैं। इस प्रकार 2011 की जनगणना के अनुसार नामकुम ब्लॉक का बाल लिंग अनुपात 984 है जो नामकुम ब्लॉक के औसत लिंग अनुपात (967) से अधिक है।नामकुम प्रखंड की कुल साक्षरता दर 73.72 प्रतिषत है। नामकुम ब्लॉक में पुरुष साक्षरता दर 71.15 प्रतिषत और महिला साक्षरता दर 54.97 प्रतिषत है।"[10]

नामकुम प्रखंड में कार्यषील स्वयं सहायता समूह

आरती महिला समूह,आशा महिला समूह,बेली महिला समीति,चांदनी महिला समूह,गुलाब महिला समूह,गुलाबाची महिला मंडल,जागृति महिला समूह,कल्याणी सहायक महिला समिति,खुशबू महिला समूह,किरण महिला समूह,लक्ष्मी महिला समिति,लिली महिला समूह,मां शारदा महिला समूह,नेहा महिला समूह,प्रगति महिला समूह,रोशनी महिला समूह,शांति महिला समूह,शारदा स्वाम सहायता समूह,सुमन महिला समूह इत्यादि कुछ प्रमुख स्वयंसहायता समूह है। जो नामकुम प्रखंड में कार्य कर रही हैं।

महिला सषक्तिकरण

महिला सशक्तिकरण सशक्तिकरण की प्रक्रिया है। इसे कई तरीकों से परिभाषित किया जा सकता है, जिसमें महिलाओं के दृष्टिकोण को स्वीकार करना या उन्हें खोजने का प्रयास करना, शिक्षा, जागरूकता, साक्षरता और प्रशिक्षण के माध्यम से महिलाओं की स्थिति को ऊपर उठाना शामिल है।

नैला कबीर (1989) के अनुसार "सशक्तिकरण महिलाओं और पुरुषों के बीच शक्ति संबंधों के पुनः परिवर्तन के रूप में व्याख्या करता है, 'ताकि महिलाओं के पास अधिक हो' अपने स्वयं के जीवन पर शक्ति और पुरुषों के पास कम शक्ति हैमहिलाओं के जीवन पर'।"[11]

जॉन फ्रीडमैन (1992) "सशक्तिकरण की अवधारणा समाज की स्वदेशी, राजनीतिक और सामाजिक संस्कृतियों से उत्पन्न होता है फ्रीडमैन के अनुसार शक्ति तीन प्रकार की होती है, सामाजिक, राजनीतिक और मनोवैज्ञानिक। सामाजिक शक्ति में प्रसंस्करण ज्ञान, सूचना और कौशल शामिल हैं। राजनीतिक शक्ति एक तंत्र है जो सूक्ष्म और वृहद दोनों स्तरों पर नीति में परिवर्तन प्रभावित करती है अंत में, मनोवैज्ञानिक शक्ति को एक आत्म–विश्वास व्यवहार, आत्मनिर्भरता और बढ़े हुए आत्म–सम्मान में प्रदर्शित शक्ति की व्यक्तिगत भावना के रूप में व्यक्त किया जाता है फ्राइडमैन सशक्तिकरण को सामाजिक बताते हैं ऐसी शक्ति, जिसे राजनीतिक शक्ति में अनुवादित किया जा सकता है। सोशल नेटवर्किंग उनकी स्थिति और शक्ति को बढ़ाती है, जिसके परिणामस्वरूप मनोवैज्ञानिक, सामाजिक और राजनीतिक की प्रक्रिया तेजी आती है और सशक्तिकरण मजबूत होती है ।"[12]

कार्ल मैरिली (1995) के अनुसार, "सशक्तिकरण महिलाओं को अपने जीवन पर नियंत्रण करने में सक्षम बनाता है, उनके जीवन का उददेश्य निर्धारित करने और संगठित होने में मदद करता है।"[13]

महिला सषक्तिकरण में स्वयं सहायता समूह की भूमिका

सरकार द्वारा गरीबी उन्मूलन के प्रयासों में छठीं पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ से अधिक तेजी लाई गई और इस समस्या पर सीधे प्रहार करने का निर्णय लिया गया। नवीं पंचवर्षीय योजना से पूर्व व्यक्तिगत स्तर पर लाभ पहुँचाने का प्रयास किया गया। व्यक्ति आधारित इन कार्यक्रमों के क्रियान्वयन के अनुभव से सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह उभर कर आया कि निर्धन वपर्ग के लोगों के असंगठित होने के कारण लाभार्थी सरकारी योजनाओं का समुचित लाभ नहीं उठा पाए हैं।

महिलाओं के विकास हेतु सरकार देश में पंचवर्षीय योजनाओं के प्रारम्भ से ही सजग रही है और प्रत्येक कार्यक्रम में उनके लिए आरक्षण रखा गया किन्तु इन कार्यक्रमों का आधार भी व्यक्ति ही था। ग्रामीण महिलाओं के नितान्त असंगठित होने के कारण उनमें पुरूषों की अपेक्षा अधिक वंचना रही।

उक्त पृष्ठभूमि में स्वयं सहायता समूह की अवधारणा एक प्रकार से रामबाण के रूप में उभरी और इससे नियोजन प्रक्रिया में क्रांतिकारी परिवर्तन आया है। अब साधन विहीनमहिलाएं स्वयं सहायता समूहों के माध्यम से अपनी स्वयं की क्षमता बढ़ा सकेंगी तथा उनमें आत्मविश्वास पैदा होगा। एक प्रकार से महिला सशक्तीकरण ही यह पहली सीढ़ी है। स्वयं सहायता समूहों में आपसी अंतर्संबंध हैं और यह समस्तरीय तथा स्तरीय दोनों प्रकार के हैं। इन समूहों के संघों की महत्वपूर्ण भूमिका है और इनके माध्यम से यह सरकारी तथा वित्तीय संस्थाओं से समन्वय स्थापित कर सकते हैं और उनका पूरा लाभ उठा सकते हैं। स्वयं सहायता समूहों की सफलता सदस्यों में आपसी मेलजोल एक दूसरे की सहायता करा तथा बाहरी समुदाय से तालमेल बनाए

रखने पर निर्भर करती है। अतः चाहे वह कोई वित्तीय परियोजना हो अथवा स्वयं सहायता समूहों की अपनी निरन्तरता हो इनके मूल में जनसहभागिता की भावना का विकास है।

"स्वयं सहायता समूह निम्न सामुदायिक कार्य करते है जैसे – मशरूम, उत्पादन, मधुमक्खी पालन, औषधीय पौधा की खेती, दूध एवं दूध निर्मित उत्पादन, पापड़, बड़ी, चिप्स, आदि का उत्पादन सिलाई, बुनाई और कढ़ाई से संबंधित कार्य।"[14] जैविक खाद उत्पादन, मछली उत्पादन, रस्सी डलिया व टोकरी निर्माण। महिलाएँ गांवों में समूह बनाकर अपना एक नेता चुन लेती हैं। उस नेता महिला के अनुसार वे सिलाई केन्द्र, रजाई बनाने का केन्द्र टोकरी बनाने का केन्द्र, सजावटी समान बनाने का केन्द्र, मोमबत्ती बनाने का केन्द्र इत्यादि उपरोक्त सभी कार्य करती हैं। इसे महिलाओं के सशकितकरण का नया कारगर औजार माना जाने लगा है, सबसे अधिक स्वयं सहायता समूह वास्तव में महिलाओं का एक अनौपचारिक समूह है जो अपनी बचत तथा बैंकों से लघु ऋण लेकर अपनी सदस्याओं की पारिवारिक जरूरते पूरी करते हैं और विकास गतिविधियां चलकर गरीबी दूर करने और महिला सशक्तिकरण में योगदान देते है।

ये समूह आपसी एकजुटता, स्वयं सहायता और सामूहिक जिम्मेदारी की धारणा को लेकर चलते हैं। इसलिए इनमें प्रायः एक जैसी आर्थिक और सामाजिक स्थिति के लोग एक साथ आते हैं। इससे उनमें ऊँच–नीच की भावना नहीं रहती और छोटी से छोटी बचत जमा करने में भी उन्हें संकोच नहीं होता। सारी व्यवस्था चूंकि आपसी भरोसे पर टिकी है इसलिए कर्ज वापसी में विशेष कठिनाई नहीं होती। इससे समूह की सदस्याओं में यह आत्मविश्वास भी पैदा हो जाता है कि वे इतनी सक्षम हैं कि कर्ज लेकर उसे लौटा भी सकती है। मोटे तौर पर कह सकते हैं कि स्वयं सहायता समूहों का मुख्य उद्देश्य महिलाओं को बचत और ऋण उपलब्ध कराना है।

ग्रामीण परिवार न केवल खेती–बाड़ी के लिए बल्कि निजी, पारिवारिक और सामाजिक जिम्मेदारियाँ पूरी करने के लिए भी सूदखोर ऋण व्यवस्था पर निर्भर रहे हैं। "बैंकों से कृषि तथा अन्य व्यावसायिक गतिविधियों के लिए किसानों को कम ब्याज पर कर्ज दिलाने के लिए सरकार ने कई कदम उठाएँ हैं, किन्तु छोटे किसान और गरीब, खासकर महिलाएँ बैकिंग प्रणाली से ज्यादा लाभ नहीं उठा पाई हैं। महिलाओं को आर्थिक रूप से सक्षम बनाने के लिए ऋण दिलाने की कारगर व्यवस्था करना इसलिए भी उपयोगी है कि महिलाओं द्वारा लिया गया कर्ज परिवार की खुशहाली बढ़ाने के लिए तो इस्तेमाल होता ही है, वे ऋण वापसी में भी पुरूषों की तुलना में अधिक ईमानदार होती हैं।"[15] यही कारण है कि लघु ऋ़ण योजनाएँ महिला समूहों से मिले लघु ऋणों से महिलाओं को खूदखोर व्यवस्था से काफी हद तक छुटकारा पाने में मदद मिली है। इन समूहों के जरिए बचत की आदत ने महिलाओं में नए तरह की आर्थिक जागरूकता पैदा कर दी है। "एक अध्ययन के अनुसार जिन–जिन क्षेत्रों में स्वयंसहायता समूह आंदोलन सक्रिय है, वहां ऋण के लिए सूदखोरी व्यवस्था का हिस्सा 66 प्रतिशत से घटकर 15 प्रतिशत रह गया है।"[16] समूहों के कर्ज लेकर सदस्यों ने अपने परिवारों की तात्कालिक जरूरतें पूरी करने के साथ–साथ परिवार की आर्थिक स्थिति मजबूत बनाने में भी सफलता प्राप्त की है जिससे गरीबी कम हो रही है। स्वयं सहायता समूहों से प्राप्त धन का इस्तेमाल सामान्य व्यावसायिक गतिविधियों जैसे कि पशुपालन, खेती बाड़ी और छोटे–मोटे काम धंधे शुरू करने के लिए भी किया जा रहा है। "तमिलनाडु में किए गए एक सर्वेक्षण से पता चला है कि 74 प्रतिशत परिवारों ने इन लघु ऋणों से प्राप्त धन जमीन, पशु और घर की जरूरी चीजें खरीदने पर लगाया है।"[17] स्वयं सहायता

समूहों की उपयोगिता गरीबी दूर करने से अधिक महिलाओं के सशक्तिकरण में सहायक सिद्ध हुई है।

निष्कर्ष

महिला सशक्तिकरण कार्यक्रम मुख्यतः शैक्षणिक, आर्थिक, सामाजिक, राजनीति एवं स्वास्थ्य जैसे महत्वपूर्ण क्षेत्रों से संबंध रखता है। महिलाओं के सशक्तिकरण में मुख्य रूप आर्थिक सशक्तीकरण ही है। अतः सम्पूर्ण सशक्तिकरण के लिए आर्थिक आत्मनिर्भरता की अहम् भूमिका है। आर्थिक रूप से पुरूषों पर निर्भर महिलाएं अपने अधिकारों के प्रति जागरूक होते हुए भी उनका उपयोग नही कर पानी है। वह स्वयं को पुरूषों की तुलना में निम्न श्रेणी का ही मानती है। आय एवं व्यय की जिम्मेदारी न होने के कारण वह अपने को दीन–हीन एवं अयोग्य समझती है। जिससे वह दूसरों के सामने विचारों को व्यक्त नही कर पाती है। महिलाएं पुरूषों की अपेक्षा अधिक श्रम करती है।

यदि हम देश के आर्थिक क्षेत्र में श्रम शक्ति की बात करें तो हम पाते हैं कि इसमें महिला श्रमिकों का प्रमुख हिस्सा है, लेकिन रोजगार के स्तर और गुणवत्ता की दृष्टि से वे पुरूषों से पीछे रह जाती है। इसके सामाजिक आर्थिक कारण भी है। भारत की जनगणना 2001 के अनुसार महिला श्रमिकों की संख्या देश की कुल महिलाअें का 25.60 प्रतिशत् है। शहरी क्षेत्र में बहुत कम संख्या में महिलाएं बैंकिंग, प्रोद्योगिकी, बिजली, गैस, पेट्रोलियम इत्यादि क्षेत्रों में कार्यरत है। शहरी आर्थिक क्षेत्रों में 80 प्रतिशत् श्रमिक महिलाएं घरेलू उद्योगों, छोट–छोटे व्यवसायों और नौकरी तथा भवन–निर्माण जैसे असंगठित क्षेत्रों में काम कर रही है।

ग्रामीण महिलाओं की आर्थिक स्थिति शहरी क्षेत्रों की अपेक्षा असंतोषजनक है। देश की कुल महिला श्रम शक्ति का बहु बड़ा हिस्सा ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करता है जिसमें 87 प्रतिशत् खेतिहार मजदूर है। कृषि कार्यों के लिए बड़े भू–स्वामियों द्वारा महिला श्रमिकों का शोषण किया जाता है। आर्थिक वर्ग की महिला अशिक्षा और अज्ञानता के कारण आजीवन ऋण ग्रस्तता के शिकार बने रहते हैं क्योंकि पालन–पोषण तथा अन्य गृहस्थी के कार्यों को पूरा करना ही इनकी नियति बन गयी है। आर्थिक क्षेत्र में तकनीकी परिवर्तन के कारण महिलाएं प्रभावित हुई हैं। शहरी क्षेत्रों में जिन महिलाअें ने तकनीकी ज्ञान अर्जित किया है, वे अच्छी स्थिति में है तथा निजी एवं सार्वजनिक प्रतिष्ठानों में अपनी सेवाएं प्रदान कर रहीं है।

ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि मुख्य आर्थिक कियाकलाप है। तकनीकी परिवर्तन के दौर में ग्रामीण भारत में महिलाओं की स्थिति पर भी प्रभाव डाला है। उदाहरण के लिए जिन क्षेत्रों में हरित क्रांति केकारण कृषि का विकास हुआ, वहां खेतों में काम करने वाली महिलाओं में तेजी से गिरावत आई। खेतों में बीज के बुआई से लेकर फसल कटाई तक, ट्रेक्टर एवं आधुनिक मशीनों के प्रयोग से बड़ी संख्या में महिला कृषि श्रमिक विस्थापित हुई। जिनके पास अपनी भूमि थी उन्हें हरित क्रांति से आर्थिक लाभ प्राप्त किया। परंतु ग्रामीण क्षेत्रों में अधिकांश महिलाएं खेतिहर मजदूर के रूप में कार्य करती है जिनकी आर्थिक स्थिति को हरित क्रांति ने और दयनिय बना दिया। महिलाओं के आर्थिक सशक्तिकरण के लिए उन्हें व्यवसायिक एवं तकनीकी प्रशिक्षण देना आवश्यक हो जाता है।

परंतु, महिला सशक्तिरण के लिए सरकारी प्रयास के अलावा स्थानीय सामूहिक प्रयास भी किया जाना चाहिए। जिसके अंतर्गत स्वयं सहायता समूह की महत्वपूर्ण भूमिका है। इसके लिए आवययक है कि महिलाओं में–

- *अधिकारों के साथ कर्तव्यों के प्रति जागरूकता*
- *निर्णय लेने की क्षमता का विकास*
- *उच्च तकनीकी शिक्षा करने के अवसर*
- *स्व–रोजगार के स्वयं सहायता समूहों का ज्ञान, एवं*
- *महिलाओं का आत्मविश्वास एवं आत्मसम्मान बढ़ाने पर कार्यक्रम आयोजित करने की।*

महिलाओं को आर्थिक रूप से सशक्त करने के लिए स्वयं सहायता समूह की भूमिका महत्वपूर्ण हो जाती है। अतः स्वयं सहायता समूह के माध्यम से उन्हें प्रशिक्षण एवं ऋण देकर व्यवसाय आरंभ कराया जाता है। इसका परिणाम भी सकारात्मक आया है। और महिला सशक्तिकरण में तीव्र गति से वृद्धि हो रही है।

इस प्रकार महिला सशक्तिकरण में स्वयं सहायता समूह की महत्वपूर्ण भूमिका रही है, स्वयं सहायता समूह न सिर्फ महिलाओं की आर्थिक दृष्टिकोण से सशक्त बनाया, बल्कि सामाजिक, शैक्षणिक, राजनीतिक तथा मानसिक दृष्टिकोण से भी सशक्त बनाने का प्रयास किया है। इसलिए इसकी भूमिका को नकारा नहीं जा सकता है।

संदर्भ सूची

1. बराइक, बी. बी एण्ड वानन, पी. पी,(2001),''प्रोमोटिंग सेल्फ हेल्प ग्रुप्स एज सब सिस्टम ऑफ क्रेडिट कोऑपरेटिवस'' द कोऑपरेटर, वॉल्यूम 38 नं 7, पृ संख्या 305–311
2. झा.डी (2001), एसएचजी हरडलिंग इमरजेंस ऑफ जेनुइन कोऑपरेटिव मूवमेंट इन इंडिया, पेपर प्रेजेंटेड एट द 19वीं एनुअल कन्वेंषन ऑफ द इंडियन सोसाइटी फोर स्टडीज इन कोऑपरेसन, हेल्ड एट पूणे डयूरिंग फरवरी 2–4, 2001
3. भाटिया, ए एण्ड भाटिया, एन. (2002)., लेंडिंग टू ग्रुप्स–इज इट वर्थवाइल, योजना 41 पृ 32–34
4. नायर, एम एण्ड गिरिजा, बी (2005)., माइक्रोफायनांस द न्यू डेवलपमेंट पाराडाइम फोर पॉवर्टी इराडिकेसन एण्ड वीमेंस इम्पावरमेंट, कुरूक्षेत्र 53 पृ 18–20
5. अषोकन, एम रंगानाथन, जी, इकबाल, आई.एम एण्ड प्रभू, जे भी (2008). रूरल वीमेन सेल्फ हेल्प ग्रुप मेंबर–ए प्रोफाइल एनालिसिस, मद्रास एग्रीकल्चरल जर्नन, 95 पृ 108–113
6. डोगरा,भारत,(2002),''वीमेन सेल्फ हेल्प ग्रुप्स'' कुरूक्षेत्र वॉल्यूम 50 नं 5, पृ संख्या 40–42

7. पुहाजहेंदी, वी एण्ड सत्यसाईं, के, जे, एस,(2002), ''इम्पावरमेंट ऑफ रूरल वीमेन थ्रू सेल्फ हेल्प ग्रुप्सः एन इंडियन एक्सपीरियेंस'' नेषनल बैंक न्यूज रिव्यू मुम्बई वॉल्यूम 18 नं 2, पृ संख्या 39–47

8. डोगरा,भारत,(2002),''वीमेन सेल्फ हेल्प ग्रुप्स'' कुरूक्षेत्र वॉल्यूम 50 नं 5, पृ संख्या 40–42

9. डब्ल्यू डब्ल्यू डब्ल्यू.रांचीडिस्ट्रीक्ट.एनआइसी.इन।

10. डब्ल्यू डब्ल्यू डब्ल्यू.रांचीडिस्ट्रीक्ट.एनआइसी.इन/नामकुम।

11. कबीर, नैला,(2003), रिवर्सड रियालिटिसः जेंडर हायराकिकिज इन डेवलपमेंट थॉट, वरसो, लंदन पृ 69–79

12. फ्रायडमैन, जॉन.(1992). इम्पावरमेंटः द पॉलिटिक्स ऑफ अल्टरनेटिव डेवलपमेंट, बासिल ब्लैकवेल, ऑक्सफोर्ड पृ 78

13. कार्ल, मैरीलि (1995). , इम्पावरमेंट एण्ड वीमेनःजेड बुक्स, लंदन पृ 13

14. त्रिपाठी, के, के,(2004),''सेल्फ हेल्प ग्रुप्सः ए कैटालिस्ट ऑफ रूरल डेवलपमेंट'' कुरूक्षेत्र, 52(8), जून पृ संख्या 40–43

15. विश्नोई, हरि, (2002), 'स्वयं सहायता समूह – आत्मनिर्भर बनने का अनूठा उदाहरण', कुरूक्षेत्र मार्च 2002

16. नाबार्ड, (2002), स्वयं सहायता समूह – बैंक सहबद्धता कार्यक्रम, बैंकरों के लिए पुस्तिका' – नाबार्ड क्षेत्रीय कार्यालय, राँची

17. नायडू, एम. सी, जयाराजू, एम एण्ड दसाथरमइया, के,(2006), ''वीमेंस इम्पावरमेंट थ्रू डवाकरा–इमपिरिकल स्टडी सोषल वेलफेयर, 51 मार्च पृ संख्या 32–38।

सोशल मीडिया का युवाओं के सामाजिक,आर्थिक तथा सांस्कृतिक जीवन पर प्रभावः एक समाजशास्त्रीय विश्लेषण (राँची नगर के विशेष संदर्भ में)

बिनीता रानी टोप्पो,
एम.ए., एम.फील, नेट (समाजशास्त्र),
सहायक प्राध्यापिका (अनुबंध), समाजशास्त्र विभाग,
राम लखन सिंह यादव महाविद्यालय, कोकर, राँची

सारांश

सोशल मीडिया का प्रयोग वर्तमान में तेजी से बढ रहा है और इसके साथ ही इसका प्रभाव बढ रहा है। सोशल मीडिया का उपयोग युवाओं में तेजी से हो रहा है। संपर्क के साधन के साथ राजनीति, अर्थव्यवस्था और अन्य क्षेत्रों में इसके उपयोग में तेजी आ रही है। इसके कारण यह समाज के प्रत्येक पहलू को प्रभावित कर रहा है और विशेषकर युवाओं के नैतिक और सामाजिक मूल्यों के साथ यह युवाओं की जीवन षैली और विचारों को प्रभावित कर रहा है। युवा सोषल मीडिया पर अपनी निजी जिंदगी खोलने लगा है साथ ही अन्य अपमाणित खबरों को वह सच मानने लगा है। जिसके कारण सोशल मीडिया का नकारात्मक पहलू भी उभर रहा है। प्रस्तुत अध्ययन में सोशल मीडिया के युवाओं पर इन्हीं प्रभावों को विस्तारपूर्वक विवेचित और विश्लेषित किया गया है।

मुख्य शब्दः*युवा, सोशल मीडिया, नैतिक मूल्य, समाज, अपराध, इंटरनेट, नेटवर्किंग, सोशल साइट्स,*

भूमिका

वर्तमान दौर में सोशल मीडिया नई पीढ़ी के जीवन का अहम हिस्सा है। यह ऐसा विशाल नेटवर्क है, जो दुनिया को आपस में जोड़े रखता है। वैश्वीकरण के इस दौर में स्वतंत्रता, समानता और मानवाधिकारों से जुड़े मुद्दों पर सोशल मीडिया में बहस काबिले तारीफ है। सामाजिक मुद्दों से रूबरू होने का सोशल मीडिया एक बेहतरीन माध्यम है। सोशल मीडिया का सही उपयोग किसी वरदान से कम नहीं, लेकिन इसका असंयमित प्रयोग हमारे अंदर कई तरह की मानसिक समस्याओं को जन्म दे सकता है।

सोशल मीडिया में प्रतिदिन कई बिलियन लोग फेसबुक पर लॉग–इन करते हैं, ट्विटर पर ट्वीट करते हैं और इंस्टाग्राम पर तस्वीरें पोस्ट करते हैं। फेसबुक, ट्विटर, इंस्टाग्राम, यूट्यूब आदि का इस्तेमाल निश्चित तौर पर ज्ञानवर्धक भी है, लेकिन इनका जरूरत से ज्यादा उपयोग युवाओं को 'एडिक्ट' बनाता जा रहा है। कई शोध ऐसे हुए हैं जिनसे पता चलता है कि सोशल मीडिया का अत्यधिक प्रयोग करने से हमारे मन–मस्तिष्क में कई तरह के नकारात्मक विचार आने लगते हैं और मानसिक स्वास्थ्य पर गहरा असर पड़ता है। इस कारण युवाओं में चिड़चिड़ापन, नींद न आना, चिंता, तनाव, अवसाद (डिप्रेशन), छोटी–छोटी बात में गुस्सा आ जाना जैसी अनेक मानसिक समस्याएं उत्पन्न हो रही हैं। इन समस्याओं का बढ़ना युवाओं के संतुलित विकास पर गहरा असर डालता है जिसका खामियाजा अंततः परिवार और समाज को भी भुगतना पड़ता है।

सोशल मीडिया मानव जीवन से जुड़ी कई समस्याओं को हल करने वाला रहा है तो कई अनावश्यक समस्याओं को बढ़ाने वाला भी। विशेषज्ञों की मानें तो युवाओं के व्यवहार और जीवन

शैली में कई तरीके के महत्वपूर्ण बदलाव देखे जा रहे हैं जिनका उनके सामाजिक एवं व्यक्तिगत जीवन से गहरा रिश्ता है। लोगों का आपस में व्यवहार तेजी से बदल रहा है। दिन–रात सोशल मीडिया पर छाए रहने की भूख लोगों को मनोरोगी बना रही है। अनावश्यक टीवी डिबेट्स, हेट स्पीच, लाइव स्ट्रीम तनावपूर्ण वातावरण बनाते हैं, जिससे कई बार व्यक्ति का ध्यान अपने काम से हटने लगता है। अक्सर यूपीएससी की परीक्षा टॉप करने वाले अभ्यर्थी 'एकाग्रता बढ़ाने के लिए सोशल मीडिया का सीमित उपयोग' की बात साझा करते रहे हैं जो उनकी कामयाबी की रणनीति का मजबूत हिस्सा होता है।

सूचना क्रांति के आधुनिक दौर में सोशल मीडिया की भूमिका बहुत अहम है। इसके माध्यम से लोग नए–नए तथ्यों और विचारों को तीव्र गति से साझा कर सकते हैं। सोशल मीडिया ने सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक मुद्दों पर महत्वपूर्ण योगदान दिया है लेकिन इसका प्रयोग दोधारी तलवार की तरह है। एक ओर इसका प्रयोग दहशत फैलाने में आसानी से किया जा रहा है, तो वहीं दूसरी ओर रचनात्मक कार्यों को बढ़ावा देने के लिए भी। सोशल मीडिया ने जहां कामयाबी के कई परचम लहराये हैं, रोजगार के कई प्लेटफॉर्म उपलब्ध कराए हैं, कामयाबी के कई नए द्वार खोले हैं वहीं लोगों के जीवन में कई तरीके के बदलाव भी किए हैं। इसका नकारात्मक प्रभाव व्यक्ति की मानसिक स्थिति को गहराई तक प्रभावित करता है। यह कई घटनाओं से साबित होता है। एक छोटी–सी घटना सोशल मीडिया के जरिए तूल पकड़ लेती है और देखते ही देखते दंगों में तब्दील हो जाती है। एक गलत पोस्ट व्हाट्सएप्प, ट्विटर, फेसबुक, इंस्टाग्राम आदि के माध्यम से शांति और सौहार्द पर कहर बरसाना शुरू कर देती है और बेगुनाहों की जान तक चली जाती है।[1] एक भड़काऊ भाषण इनके जरिये पूरे समाज में दहशत फैला देता है। सोशल मीडिया ने कई तरह के अटकलों का बाजार भी गर्म किया है। इन सबसे लोगों का मानसिक तनाव और बढ़ता है।

कम्प्युटर एंड ह्यूमन बिहैवियर नामक जर्नल में प्रकाशित एक शोध के मुताबिक, कुछ व्यक्तियों ने 7 या उससे अधिक सोशल मीडिया प्लेटफॉर्म का इस्तेमाल किया और कुछ ने 0 से 2 सोशल मीडिया प्लेटफार्म का इस्तेमाल किया। अध्ययन में पाया गया कि जिन व्यक्तियों ने 7 या उससे अधिक सोशल मीडिया प्लेटफॉर्म का उपयोग किया था, उनमें एंग्जायटी या चिंता की समस्या तीन गुनी ज्यादा थी। जाहिर है सोशल मीडिया मानसिक स्वास्थ्य पर गहरा असर डाल रही थी।[2]

सन् 2018 के एक सर्वे के मुताबिक, 31 प्रतिशत किशोरों का मानना है कि सोशल मीडिया से उनके जीवन में ज्यादातर सकारात्मक प्रभाव पड़ा है। सोशल मीडिया ने उन्हें सामाजिक सहयोग के कई तरह के अवसर उपलब्ध कराए हैं। यद्यपि 25 प्रतिशत किशोरों का मानना है कि सोशल मीडिया ने उन पर ज्यादातर नकारात्मक प्रभाव डाला है। शोध में 12 से 17 वर्ष के 13 प्रतिशत किशोरों में डिप्रेशन की शिकायत देखी गई। 32 प्रतिशत किशोरों में चिंता की समस्या उभर कर सामने आई। शोध में पाया गया कि 18 से 25 वर्ष के युवाओं में मानसिक स्वास्थ्य से संबंधित समस्याएं तेजी से बढ़ रही हैं।[3] कुछ शोधकर्ताओं का मानना है कि मानसिक स्वास्थ्य संबंधी समस्याओं को बढ़ावा देने में सोशल मीडिया का अहम रोल है, लेकिन इसका यह मतलब बिल्कुल नहीं है कि सोशल मीडिया इन सभी समस्याओं का मुख्य कारण है। हाँ, यदि पहले से ही किसी व्यक्ति में मानसिक स्वास्थ्य से संबंधित कोई समस्या मौजूद है तो सोशल मीडिया के उपयोग के कारण वह और ज्यादा बढ़ सकती है। इसी विषय पर 2020 में किए गए एक अध्ययन में पाया गया है कि जिन व्यक्तियों ने अपना फेसबुक एकाउंट एक माह के लिए डिएक्टिवेट कर दिया, उनमें

डिप्रेशन और चिंता कम देखी गई। उनमें संतुष्टि और प्रसन्नता या खुशी (लाइफ सेटिस्फेक्शन और हैप्पीनेस) का ग्राफ लगातार बढ़ता हुआ देखा गया।[4]

सन् 1950 के दशक में सामाजिक मनोवैज्ञानिक सोलोमन असच पारा द्वारा कुछ श्रृंखलाबद्ध मनोवैज्ञानिक प्रयोग किए गए थे। इन प्रयोगों द्वारा यह पता लगाने की कोशिश की गई कि किस प्रकार बहुमत की राय के आगे किसी व्यक्ति की राय प्रभावित होती है। इन प्रयोगों के निष्कर्ष में असच ने पाया कि कोई व्यक्ति गलत जवाब देने के लिए सिर्फ इसलिए तैयार था कि वह बहुमत की राय के साथ शामिल होना चाहता था। उत्तरदाताओं ने इसलिए भी गलत जवाब दिए क्योंकि वे अपना उपहास कराना नहीं चाहते थे। उनका मानना था कि बहुमत उनके मुकाबले ज्यादा जानकार है।[5]

विश्व आर्थिक मंच की रिपोर्ट के अनुसार, दुनिया में सोशल मीडिया के माध्यम से गलत सूचनाओं का प्रसार कुछ प्रमुख उभरते जोखिमों में से एक है। वास्तव में, यह केवल देश की प्रगति ही नहीं बल्कि हमारी युवा पीढ़ी के उज्ज्वल भविष्य में भी एक प्रमुख बाधा है।

राँची नगर का विवरण

रांची जिला का क्षेत्रफल 4962.82 वर्ग किमी है। जिसकी कुल जनसंख्या 2011 की जनगणना के अनुसार 2912022 है। यहां की दषकीय जनसंख्या वृद्धि दर 23.90 प्रतिषत है। झारखण्ड की कुल जनसंख्या का 8.83 प्रतिषत भाग रांची में निवास करता है। जनसंख्या की दृष्टि से यह झारखण्ड का पहला जिला है। रांची जिले में 0–6 वर्ष की आयु के बच्चों की कुल संख्या 388052 है, जिसमें लड़कों की संख्या 200327 और लड़कियों की संख्या 187725 है। यहां का लिंगानुपात 950 है। रांची की साक्षरता दर 77.13 प्रतिषत है। जिसमें पुरूष साक्षरता 85.63 प्रतिषत और महिला साक्षरता 68.20 प्रतिषत है। और इसका जनसंख्या घनत्व 557 व्यक्ति प्रति वर्ग किमी है।[6]

युवाओं के सामाजिक जीवन पर प्रभाव

बच्चे अपने आसपास की दुनिया को बेहतर ढंग से समझने और विभिन्न विषयों पर अपने ज्ञान का निर्माण करने के लिए विभिन्न दृष्टिकोणों और विश्व साक्षात्कारों को सीख और सराहना कर सकते हैं। कई प्लेटफार्मों पर साझा किए गए इतने सारे विचारों के साथ, वे रुचि के क्षेत्रों की खोज कर सकते हैं और एक शैक्षिक क्षमता में प्लेटफार्मों काजैसा कि सोशल मीडिया अब रोजमर्रा की जिंदगी का एक हिस्सा है, बच्चों और युवाओं के लिए यह सीखना महत्वपूर्ण है कि उन्हें कार्यस्थल में भविष्य के अवसरों के लिए तैयार करने के लिए ऑनलाइन संवाद कैसे करें और दोस्तों और परिवार के साथ बातचीत में उनका समर्थन करें। उपयोग कर सकते हैं।

सोशल मीडिया लोगों से मिलने और बनाए रखने और सीमाओं से परे बांड बनाने की सीमाओं को हटा देता है। उन बच्चों के लिए जिनके पास विकलांगता हो सकती है या महसूस नहीं कर सकते हैं कि वे अपने समुदाय के भीतर दूसरों के साथ जुड़ सकते हैं, यह अन्य लोगों के साथ जुड़ने का एक शानदार तरीका हो सकता है जो अपने विचारों और रुचियों को साझा करते हैं।

परिवार के सदस्यों के लिए उपयोग करना, जो एक स्थानीय क्षेत्र से चले गए दोस्तों के अलावा मीलों तक रह सकते हैं, रिश्तों को बनाए रखने और उन्हें संपर्क में रहने और आसानी से अपने जीवन को साझा करने की अनुमति दे सकते हैं।यह उन मित्रों और परिवार को सहायता प्रदान करने के अवसरों को खोल सकता है जो किसी विशेष मुद्दे का अनुभव कर रहे हों। कुछ युवाओं के

लिए फ्लिप की तरफ, यह एक ऐसी जगह हो सकती है जहां वे समर्थन की तलाश कर सकते हैं यदि वे किसी ऐसी चीज से गुजर रहे हैं जिसके बारे में वे उन लोगों से बात नहीं कर सकते हैं।[7]

सोशल मीडिया युवाओं को एक विशेष कारण के बारे में जागरूकता बढ़ाने में मदद कर सकता है कि वे उस परिवर्तन को प्रभावित करने के लिए वास्तविक दुनिया पर प्रभाव डालना चाहते हैं जहां वे इसे देखना चाहते हैं।सोशल मीडिया के सकारात्मक प्रभावों की बात की जाए तो यह समाज के सामाजिक विकास में मदद करता है। इसके द्वारा प्रदत्त सोशल मीडिया मार्केटिंग जैसे उपकरण द्वारा लाखों सभावित ग्राहकों तक पहुँच स्थापित की जा सकती है और समाचार का प्रेषण किया जा सकता है। सामाजिक मुद्दों पर जागरूकता उत्पन्न करने के संदर्भ में सोशल मीडिया को एक बेहतरीन उपकरण माना जाता है। इसके द्वारा समान विचारधारा वाले लोगों के साथ संपर्क भी स्थापित किया जा सकता है। विश्व के सुंदरतम कोने तक अपनी बातों को कम समय में तीव्र गति से अधिकतम लोगों तक पहुँचाने के लिये यह एक सर्वश्रेष्ठ साधन बन चुका है।

सोशल मीडिया को शिक्षा प्रदान करने के संदर्भ में एक बेहतरीन साधन माना जा रहा है। इसके द्वारा ऑनलाइन जानकारी का तेजी से हस्तांतरण होता है। इसके द्वारा ऑनलाइन रोजगार के बेहतरीन अवसर प्राप्त होते हैं। साथ ही व्यवसाय, चिकित्सा, नीति निर्माण को प्रभावित करने में भी इसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। वर्तमान समय में शिक्षक एवं छात्रों द्वारा फेसबुक, ट्विटर, लिंक्डाइन आदि जैसे प्लेटफॉर्म का प्रयोग किया जा रहा है। इसके द्वारा शिक्षक एवं छात्रों के मध्य दूरी सिमट कर कम हो गई है। प्रोफेसर स्काइप, ट्विटर और अन्य जगहों पर इसके मदद से लाइव चैट करते हैं। सोशल मीडिया के कारण शिक्षा आसान हो गई है।

हालाँकि कई भौतिकविदों का मानना है कि सोशल मीडिया लोगों में अवसाद और चिंता के प्रसार का एक सबसे बड़ा कारण है। सोशल मीडिया के अत्यधिक प्रयोग से सोने की आदतों में बदलाव, साइबर अपराध, बच्चों के प्रति लगातार बढ़ते दबाव और एक प्रभावशाली प्रोफाइल युवाओं को बड़े पैमाने पर प्रभावित कर रही है। इसमें अत्यधिक व्यस्तता के कारण अन्य कार्यों के लिये बहुत कम समय बचता है एवं अन्य गंभीर मुद्दों की उत्पत्ति होती है जैसे ध्यान कम लगना, चिंता एवं अन्य मुद्दे। इसके अत्यधिक प्रयोग एवं गोपनीयता से निजता में कमी आती है। यह उपयोगकर्त्ता को साइबर अपराधों जैसे हैकिंग, पहचान संबंधी चोर फिशिंग अपराधों आदि के प्रति संवेदनशील बनाता है।

युवाओं के सांस्कृतिक जीवन पर प्रभाव

युवाओं का सांस्कृतिक जीवन वर्तमान संदर्भ में तकनीकी के माध्यम से संचालित हो रहा है। जिसके अंतर्गत उनके ज्ञान या व्यवहार का विकास होता है। अगर युवाओं के सांस्कृतिक जीवन पर सोषल मीडिया के प्रभावों को देखें तो ये निम्नवत हैं–

1. नींद न आना
2. सामाजिक अलगाव
3. साइबर–धमकी या साइबरबुलिंग
4. फेसबुक डिप्रेशन यानी अवसाद
5. इंटरनेट की लत
6. आत्म–सम्मान कम होना
7. दैनिक गतिविधि में कमी

8. एकाग्रता (ध्यान) में कमी

नींद न आना

सोशल मीडिया आज किशोरावस्था में नींद न आने के प्रमुख कारणों में से एक है। वे लगातार इस बात को लेकर चिंतित रहते हैं कि उनके दोस्त क्या पोस्ट कर रहे हैं और क्या साझा कर रहे हैं। और अगर वे विशेष रूप से सोने के समय या सोने से ठीक पहले ऐसा करते हैं, तो उनकी नींद बाधित होने की बहुत अधिक संभावना है। यदि उनको रुकने के लिए प्रेरित नहीं किया गया तो किशोर अधिक अवधि तक सोशल मीडिया पर सक्रिय रह सकते हैं। इसका अध्ययन आपको नींद के महत्व और नींद के नुकसान के जुड़े जोखिमों को समझने में मदद कर सकती है।[8]

सामाजिक अलगाव

सोशल मीडिया के उपयोग और सामाजिक अलगाव के बीच एक गहरा संबंध है। जब किशोर किसी पार्टी की तस्वीरें या वीडियो देखते हैं, जहां उन्हें आमंत्रित नहीं किया गया था, तो उसे चिंता हो जाती है कि उसे क्यों दावत नहीं दिये गए। इसे "गुम होने के डर" के रूप में जाना जाता है।

अधिकांश बच्चों का मानना है कि वे सोशल मीडिया का उपयोग करके विभिन्न व्यक्तियों से जुड़ रहे हैं, लेकिन वास्तव में वे वर्तमान समय और अपने जीवन से बाहर हैं। यह डर तो आसपास के लोगों से बहुत अधिक दूरी का कारण बन सकता है।

साइबर–धमकी या साइबरबुलिंग

एक साइबर बुली (बदमाश) विशिष्ट सोशल मीडिया उपयोगकर्ताओं को झूठी, शर्मनाक या शत्रुतापूर्ण जानकारी देने के लिए इसका उपयोग करता है।सोशल मीडिया के प्रमुख नकारात्मक प्रभावों के बीच, साइबरबुलिंग सबसे खतरनाक है जो इस तरह के असामान्य अंतर्जाल बन गया है। लंबे समय तक साइबर बदमाशी के शिकार लोग अक्सर डिप्रेशन, अलगाव, अकेलापन, तनाव और चिंता में रहते हैं वह अपने आत्मसम्मान में कमी को महसूस करता है और कुछ तो आत्महत्या जैसे मनोवैज्ञानिक समस्याओं तक कर बैठते हैं। इन गतिविधियों को उग्र बनाने वाले साइबरबुलिंग के पीछे सोशल मीडिया उपयोगकर्ताओं की नासमझी का बहुत बड़ा हाथ होता है।

फेसबुक डिप्रेशन यानी अवसाद

फेसबुक डिप्रेशन एक भावनात्मक असंतुलन है जो सोशल मीडिया के उपयोग से जुड़ा है। जब एक किशोर को अपने ैवबपंस डमकपं के दोस्तो में हीनता महसूस करते है, तो वे अक्सर डिप्रेशन यानी अवसाद में पड़ जाते हैं जिसे आमतौर पर फेसबुक डिप्रेशन यानी अवसाद कहा जाता है। ऐसे किशोरों के लिए उनके फेसबुक या ट्विटर मित्रों द्वारा उनके लिए खड़े होने या उसे स्वीकार किए जाने की आवश्यकता होती है जो ऐसे युवाओ को डिप्रेशन के इस रूप से बचा सकते हैं।

इंटरनेट की लत

किशोरों में अनियंत्रित सोशल मीडिया के उपयोग से इंटरनेट की लत लग जाती है। बच्चे जितना अधिक समय सोशल मीडिया पर बिताते हैं, वे उतनी ही नई कहानियों और विचारों के संपर्क में आ जाते हैं जो वे तलाशना चाहते हैं। यह आदत अंततः एक लत में बदल जाती है। अगर जल्द संभाला नहीं गया तो उनके स्कूल पढ़ाई, मानसिक स्वास्थ्य और यहां तक कि व्यक्तिगत विकास भी प्रभावित हो सकता है।[9]

आत्म–सम्मान कम होना

ज्यादातर किशोर लड़कियां सोशल मीडिया पर समय बिताने के बाद मशहूर हस्तियों से अपनी तुलना करना शुरू कर देती हैं और उनकी तरह पतली, सुंदर और अमीर दिखना चाहती हैं। किशोरावस्था में, उन व्यक्तियों को कॉपी करना सामान्य है जिन्हें वे अपना आदर्श मानते है और जिसका वे प्रशंसा करते हैं। यह नकल उनके स्वाभिमान और गरिमा को नकारात्मक रूप से प्रभावित कर सकती है।

दैनिक गतिविधि में कमी

सोशल मीडिया का बहुत ज्यादा उपयोग करने वाले किशोर उन गतिविधियों पर पर्याप्त समय नहीं बिताते हैं जो निश्चित रूप से मानसिक क्षमताओं, कौशल और शारीरिक क्षमताओं को बढ़ाते हैं। जो लोग रोजाना व्यायाम करते हैं, उनका शरीर एंडोर्फिन छोड़ता है जो कि हमारे मस्तिष्क को सकारात्मक रहने और डिप्रेशन को कम करने का संकेत देता है। इस प्रकार घटी हुई दैनिक गतिविधियाँ एंडोर्फिन के श्रोतों को कम करती हैं और इससे डिप्रेशन एक आम समस्या बन जाती है।

एकाग्रता (ध्यान) में कमी

आज छात्रों पर सोशल मीडिया के नकारात्मक प्रभाव को आसानी से देखे जा सकते हैं। विभिन्न कार्यों, जैसे कि स्कूलवर्क, क्लासवर्क या होमवर्क, किसी भी महत्वपूर्ण चीज से निपटने के लिए अधिक एकाग्रता (ध्यान) की आवश्यकता होती है, लेकिन अब किशोरों को सोशल मीडिया का उपयोग करने की आदत लग गई है। उनमें से ज्यादातर इसे मल्टीटास्किंग मानते हैं लेकिन सच्च में ऐसा नहीं है। शोध बताते हैं कि निरंतर सोशल मीडिया का उपयोग ध्यान पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है, और यह अध्यन, सीखने और प्रदर्शन में रुकावट पैदा करता है।

युवाओं के आर्थिक जीवन पर प्रभाव

सूचना प्रौद्योगिकी के कारण बाजार, व्यापार एवं प्रशासन कार्य पद्धति में भारी क्रांति आई है। व्यापार क्षितिज इंटरनेट, वर्ल्ड वाइट वेब (डब्ल्यू डब्ल्यू डब्ल्यू) साइबर स्पेज, इन्फार्मेशन सुपर हाइवे आदि जैसे शब्दों से गुँजायमान है, जिसके कारण ग्राहकों से सम्पर्क स्थापित करने, आर्डर लेने एवं प्रक्रिया, नेटवर्किंग एवं व्यापार पद्धति के समन्वयन के तौर–तरीकों में बदलाव आ रहा है। इंटरनेट हजारों छोटे–छोटे नेटवर्क, लाखों कम्प्यूटरों एवं सूचना देने वालों लाखों मानव स्त्रोतों से सम्पर्क काम करता है। प्रौद्योगिकी विशेषज्ञों के पूर्वानुमान के अनुसार इंटरनेट और वर्ल्ड वाइड वेब व्यावसायिक जगत की धुरी बनेगा। संयुक्त राष्ट्र का मत है कि वर्तमान युग में दूर संचार, स्वास्थ्य कल्याण एवं साक्षरता के बढ़ते चरणों की तरह एक मानवीय अधिकार रूप ले रहा है। सूचना प्रौद्योगिकी, सॉफ्टवेयर और हार्डवेयर दोनों ही उद्योग के प्रचुर मात्रा में उपभोक्ता होने के कारण बड़े पैमाने पर फैल रही है। विकासशील देशों में सबसे निर्धन देश भी सूचना एवं संचार तकनीकों द्वारा परम्परागत समस्याओं से छुटकारा पाकर आधुनिक सूचना युग में तब्दील हो सकती है।

युवा जनसंख्या एक ऐसे संक्रमणकाल से गुजर रही है जो अनेक प्रकार की सामाजिक चिंताएं पैदा करता है। सोशल मीडिया के प्रति युवाओं के एक बहुत बड़े हिस्से का आकर्षण एक गहरी लत के स्तर तक जा पहुंचा है और वह सामाजिक जीवन के एक बड़े भाग को प्रभावित और निर्धारित करने लगा है। राजस्थान के कोटा में अवलोकन के दौरान मैंने पाया कि अध्ययन के लिए आए हुए युवा सोशल मीडिया के अलग–अलग मंचों का अत्यधिक इस्तेमाल करने में लगे हुए हैं।

इस आदत ने सामाजिक जीवन को व्याधि के स्तर तक प्रभावित किया है। इन गतिविधियों में संलग्न रहने के कारण युवाओं में शारीरिक बीमारियां बेतहाशा बढ़ रही हैं।[10]

शारीरिक श्रम या गतिविधियों में तेजी से कमी आई है। लगभग आठ साल पहले जब वहां मैंने शिक्षण कार्य शुरू किया था तो सुबह पार्क में टहलते हुए अनेक युवाओं से बातचीत हो जाती थी। लेकिन अब यह संख्या बहुत कम हो गई है। बहुत सारे युवाओं का वजन बढ़ रहा है। नींद पर्याप्त न लेने के कारण कामकाज के प्रति रुचि का कम होते जाना जाहिर होने लगा है। किसी काम को लेकर वे 'कल करेंगे' के तर्क को पेश करते हैं। यह ठहराव धीरे–धीरे कुंठा और पराजय की स्थितियों को जन्म देता है। युवाओं में ऐसी निराशा का भाव एक नए प्रकार की सांस्कृतिक विसंगति को जन्म दे सकता है। यह संस्कृति न केवल सामाजिक संबंधों में उनकी सहभागिता को कम करती है, बल्कि उन्हें भय और आक्रामकता का शिकार बनाती है और कहीं न कहीं आत्महत्या की प्रवृत्ति के उत्पन्न होने में योगदान करती है। इसके अलावा, धूम्रपान और मादक द्रव्यों के सेवन से लेकर दिखावे की दूसरी चीजों के प्रति भी उनका आकर्षण बढ़ा है।[11]

दरअसल, सोशल मीडिया का प्रयोग युवा वर्ग के लिए एक ब्रांड का रूप ले चुका है। वे दलील देते हैं कि इसका अधिक से अधिक प्रयोग उनकी प्रतिष्ठा में वृद्धि करेगा। कोटा के विद्यार्थियों के मुताबिक किताब, स्टेशनरी, मनोरंजन के लिए सिनेमा, सांस्कृतिक कार्यक्रम आदि में व्यय और यहां तक कि अच्छे होटल और रेस्तरां में खाने की आवृत्ति में कमी कर स्मार्टफोन खरीदने के लिए पैसे की बचत की जाने लगी है। इसके अलावा, माता–पिता पर यह भावनात्मक दबाव डाला जाने लगा है कि वे महंगे स्मार्टफोन और सुविधाओं का इस्तेमाल करने के लिए आर्थिक संसाधन उपलब्ध कराएं। इस बढ़ते हुए बाजार का लाभ कॉरपोरेट घरानों को हो रहा है। कोटा में यह दबाव इसलिए भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि प्रतिष्ठा का न बढ़ना या ब्रांड के बाजार में पीछे छूटने की शंका शैक्षणिक प्रयासों पर प्रतिकूल प्रभाव डालने का एक ऐसा कारण बनती है जो कालांतर में आत्महत्या की प्रवृत्ति को भी जन्म देता है।

सोशल मीडिया पर अब जो कुछ सार्वजनिक हो रहा है, उसमें सच और झूठ के बीच का अंतर कम होता जा रहा है। इसने सृजनशीलता और मनोरंजन के बाजार में हड़कंप पैदा किया। दूसरी सूचनाएं देकर युवाओं को आक्रामक बना देना एक ऐसी कोशिश है, जो एक तरफ सामाजिक विभाजन पैदा करती है, दूसरी तरफ अनावश्यक तनाव को व्यक्तित्व में भर देती है। एक सीमा तक यह कहा जा सकता है कि सोशल मीडिया ने वंचना और कुंठा के समाज मनोविज्ञान को नए अर्थ दिए हैं। ऐसा लगता है कि फ्रायड के मनोविश्लेषणात्मक सिद्धांत को सोशल मीडिया के संदर्भ में नए सिरे से समझने की आवश्यकता है। क्या युवाओं के सपनों को सोशल मीडिया निर्मित कर रहा है? या फिर युवा–सपनों को केंद्र में रख कर सोशल मीडिया नई सांस्कृतिक फैंटेसी उत्पन्न कर रहा है? इन सवालों पर समाज वैज्ञानिकों को विचार करने की आवश्यकता है। अगर सोशल मीडिया ज्ञान, सूचना, कौशल और विविधतामूलक चेतना उत्पन्न कर व्यक्तित्व विकास को नए अर्थ देता है, तब भारत का युवा विकास के प्रारूप में समूचे विश्व के लिए धरोहर बन जाता है।

अगर गहराई में जाएं तो सोशल मीडिया का चरित्र कॉरपोरेटीय है और यह खंडित संस्कृति अविश्वास, हिंसा, भावनात्मक आक्रामकता और केवल विजय को स्थापित करता है। इसने 'आई मस्ट बी द बेस्ट' के विचार को सर्वाधिक मजबूती दी है और इसलिए 'बेस्ट आउट ऑफ द क्वालीफाइड' का संदेश बाजार में एक ऐसी गला–काट प्रतियोगिता उत्पन्न कर चुका है, जिसमें कुछ की तो जीत

है, लेकिन एक बहुत बड़े हिस्से की हार है। हारा हुआ युवा एक दृष्टि में सामाजिक बहिष्कार को प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में महसूस करता है और यही वह स्तर है जहां बिखराव होता है। क्या हमारे पास इस बिखराव को रोकने के लिए कोई विकल्प है? यानी क्या हम वैकल्पिक सोशल मीडिया की संभावना उस रूप में देख सकते हैं जो एक दौर विशेष में वैकल्पिक सिनेमा और वैकल्पिक साहित्य के रूप में उत्पन्न हुआ था और जिसने वैचारिक सहभागिता के क्षेत्र में इन संभावनाओं को जन्म दिया था, जिन्हें हम आज भी सामाजिक क्रांतियों के रूप में स्वीकार करते हैं?

निष्कर्ष

सोशल मीडिया ने अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अधिकार को नया आयाम दिया है, आज प्रत्येक व्यक्ति बिना किसी डर के सोशल मीडिया के माध्यम से अपने विचार रख सकता है और उसे हजारों लोगों तक पहुँचा सकता है, परंतु सोशल मीडिया के दुरुपयोग ने इसे एक खतरनाक उपकरण के रूप में भी स्थापित कर दिया है तथा इसके विनियमन की आवश्यकता लगातार महसूस की जा रही है। अतः आवश्यक है कि निजता के अधिकार का उल्लंघन किये बिना सोशल मीडिया के दुरुपयोग को रोकने के लिये सभी पक्षों के साथ विचार–विमर्श कर नए विकल्पों की खोज की जाए, ताकि भविष्य में इसके संभावित दुष्प्रभावों से बचा जा सके।

अतः आवश्यक है कि समाज और सरकार इस विषय पर गंभीरतापूर्वक विचार करे तथा सोशल मीडिया के असंयमित उपयोग, दुरुपयोग अथवा इसको दुष्प्रचार का माध्यम बनने से रोके। सोशल मीडिया की नकारात्मक भूमिका से हमें अपने आपको और अपने देश–समाज को बचाना होगा ताकि युवाओं के मानसिक स्वास्थ्य को दुरुस्त रखा जा सके और एक स्वस्थ युवा समाज का निर्माण हो सके। सोशल मीडिया के जरिये हमें अच्छा बोलने, अच्छा देखने, अच्छा सुनने पर फोकस करना होगा जिससे समाज में सकारात्मक ऊर्जा का संचार बढ़े। सोशल मीडिया का उचित उपयोग समाज की कई समस्याओं को हल कर सकता है या उन्हें हल करने में मदद कर सकता है। इसकी शक्ति व क्षमता का सकारात्मक उपयोग युवाओं का मानसिक स्वास्थ्य ठीक रखेगा और देश की तरक्की में उनका सही उपयोग हो सकेगाय साथ ही सामाजिक वातावरण में भी शांति एवं सौहार्द बना रहेगा।

संदर्भ सूची

1. सिंह, षंकर, 2005, सूचना संचार प्रौद्योगिकी इंटनरेट सूचना समाज, एस एस पब्लिषर्स, नई दिल्ली
2. कुंदरा, बलवीर, 2007, जनसंचार बदलते परिप्रेक्ष्य, तक्षषिला प्रकाषन, नई दिल्ली
3. केली टी.एंड एकेली डी. 2019 क्रियेटिव कान्फिडेंसः अनलिशिंग द क्रियेटिव पावर विदिन अस ऑल, विलियम कॉलिन्स
4. लिवरमोरए डी.ए., 2020, लीडिंग विद कल्चरल इंटेलीजेंसः द न्यू सीक्रेट टू सक्से, न्यूयॉर्कः अमेरिकन मैनेजमेंट एसोसिएशन
5. मल्होत्रा, महेंद्र, 2012, मीडियाःसामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक सरोकार, रावत पब्लिकेसन, नई दिल्ली
6. भारत की जनगणना 2011
7. यादव, अवधेष कुमार, 2013, भारत में जनसंचार एवं पत्रकारिता, हरियाणा ग्रंथ अकादमी, पंचकूला
8. एलकिंगटनए जे, और हार्टिगनए पी, 2008, दॅ अनरीजनेबल पीपुलः हॉउ सोशल इंटरप्रियोनर्स क्रिएट मार्केटस् देट चेंज द वर्ल्ड, हार्वर्ड बिजनेस प्रेस
9. कुरियनए वी.ए एंड साल्वेए जी. 2012 आई टू हैड ए ड्रीम, रोलीबुक्स प्राइवेट लिमिटेड
10. मैककॉर्मैकए एम. एच. 2012वह्राट दे डॉन्ट टीच यू एट हार्वर्ड बिजनेस स्कूलः ए नोट फ्राम ए स्ट्रीट–स्मार्ट एक्सीक्यूटिव, आरएचयूएस
11. मणी, एस, 2012, ब्रिजिंग द डिजिटल डिवाइडः द इंडियन एक्सपिरियेंस इन इक्जिंग द एक्सेस टू टेलिकॉम्युनिकेसंस सर्विसेज, इंटरनेषनल जर्नल ऑफ टेकनोलॉजिकल लर्निंग, इनोवेसन एण्ड डेवलपमेंट 5/1–2: 184–203

Dimensions of Professional Education as the Key to Success

Lt.(Dr.)Parul Mishra,
AssociateProfessor, Dept. of Education
ANO NCC. N.A.K.P. PG College,
Farrukhabad

Abstract

Every country has its system of professional education, each differing in the types of universities and professional schools, the duration of teaching, the degrees offered, and the possibility of continuing education at the next level. However, the diverse systems of professional education can be reduced to two main types: that of the USA and that of Germany. Many countries have adopted the features of these systems of professional education. The main characteristics of the American system are many levels of education, a diversity of universities and other institutions of higher education, and a large number of elective subjects. The German system differs in essence from that of the USA: there is only one academic degree in higher schools, all universities are of equal status and there is no grading of universities, education is conducted based on a university curriculum and students cannot change their courses, and higher professional education is strictly oriented to a specific activity, which is determined by the type of institution. In Germany, there is no special level of secondary professional education. Every country is also characterized by its educational structure. The structure of education defines the distribution of students and graduates in various fields. The distribution of students and graduates across these fields depends on the role professional education plays in that country. In countries where education has to satisfy the educational demands of the individual, there is a large proportion of graduates in the humanities, law, and the social sciences. In countries where the educational system is an element of the system of material production, there is a greater proportion of graduates in the natural and technical sciences.

Introduction

Nowadays, professional education is a very viable alternative for people who want to have a professional and be successful in their lives. People who have specialized skills and experience in a certain area of knowledge become more preferable for many employers. Look through the valuable information about types of professional education, its benefits, programs, and institutions that may help you to obtain professional education and much more. Professional education is a systematic program for students and adult

students who look for higher education to enlarge proficiency in specific jobs. Professional education helps raise knowledge of self, options of occupation, training opportunities, job search skills, and decision-making strategies. A lot of schools and colleges around the world offer courses on professional education that can help to form student's future. Educational and professional searching arranges students for an important professional. Professional education programs create consciousness and experience to learning. In a competitive job marketplace, employers are demanding more skills to keep on time and money required for training. Due to the increasing needs of organizations crossways industries, universities offer numerous professional education programs.Professional education programs are a synchronized system of experiences and learning activities that link school and work. These programs contain professional courses in all fields of knowledge such as art and design, business, education, engineering, medical, law, and computer science. The task of the professional education program is to present purposeful and organized opportunities and resources for all students to connect in significant professional and personality development.Students are successful when they notice a reason behind their academics. A professional education program gets better students and stimulates them in their academic performance. It makes available an opportunity for students to decide on professional-related assignments and knowledge to go forward with their professionals. It also provides them an alternative to choosing a professional of their interest. These programs focus on the student, interpersonal and professional development of students to obtain an understanding of their skills. They help to realize their potential and increase learning skills and strategies that could be used in their future workplace.

PROFESSIONAL EDUCATION

Professional education can be defined in different ways. It can be defined by the goal of education. In this definition, professional education would be the education of different levels through which people qualify for a certain profession or specialty. On the other hand, professional education can be defined by the type of educational institution: this would be the education obtained in professional secondary schools, and universities, and institutes. The type of professional education that is established, the duration of the training, and the degrees obtained depend on the system of education in each country. The systems of education of different countries are quite different, but they can be reduced to some main types. The professions (or specialties) they qualify graduates for are defined by the structure of education, which is also different in each country. The structure of education defines the distribution of students and graduates in various fields. The International Standard Classification of Education (ISCE) defines the following fields of education: • Education: pedagogical sciences and training of teachers. • Humanities: arts; religion. • Law and social sciences: law and social sciences; commercial and business management; communication and documentation; services and domestic science. • Natural, technical, and agricultural sciences: natural sciences; technical sciences;

mathematics and informatics; architecture and civil construction; transport and communication; industry; trade and handicraft; agriculture, forest industry, and fishing. • Medical sciences: medicine and public health sciences.

Get to know what professional education is and how it can help you to discover professional choices available for you today.Today, professional education is an inherent part of the modern person's life looking for higher education to enlarge proficiency in specific jobs. This category will help you to discover how professional education can help you in raising knowledge of self, options of occupation, and teach skills necessary for the future job that can help to form your future. A professional is a gradual development in a person's professional life. From a very young age, all take their professionals seriously because everyone wants to be successful in life and financial success in life depends on the professional chosen. A good professional not only gives people money but also helps them get respect at the workplace and in society. An aggressive world stimulates people to look for a higher education that can improve their future. Professional education is a more and more applicable component of student and adult learning as it is a methodical program designed for them. It contains activities and experiences designed to raise knowledge of self, occupations, training paths, job searching skills, and decision-making strategies. Professional education programs are used as tools to help students discover professional choices available to them. However, many students have questions about their professional path and may want to continue their education beyond the college level. The Internet is one of the most useful resources obtainable to students who would like professional education. A lot of websites propose personality, skill, and knowledge evaluations. There are many personality tests asking students questions concerning their professional options, and the results help students make the right choices or limit their professional choices. Some online courses are designed to propose continuing education, and some universities present all levels of degrees. Evaluations help students realize their strengths and weaknesses, making them better able to choose a professional. Some government agencies propose professional education and job counseling to individuals who are looking for a professional.

TYPES OF PROFESSIONAL EDUCATION PROGRAMME

Main professional education programs at various universities are:

ART AND DESIGN: Proposes programs in interior design, graphic design, advertising, and commercial design, animation fashion design, film and video, game art design, photography, music, and video.

BUSINESS: Offers programs in construction management, supply chain management, forensic accounting, and project management

CULINARY: Offers programs in baking and pastry, catering, chef training, culinary arts, and restaurant management.

EDUCATION: Offers early childhood education, educational administration, special education, and teaching.

ENGINEERING: Offers programs in electrical, mechanical, electronics, environmental, manufacturing, and computer engineering.

HEALTH AND MEDICAL: Offers programs covering counseling, care, and management.

LAW AND CRIMINAL JUSTICE: Offers programs in court reporting, criminal justice forensics, law enforcement, and legal services.

COMPUTER SCIENCE: Programs in sciences comprise aviation science, veterinary science, science, and biotechnology.

Rapid job market changes are also included in these programs. Numerous universities offer scholarships or students loans for their financial support. These programs emphasize the submission of students in the workplace. Professional education programs help students to increase appropriate knowledge to make them more attractive to their potential employers.

PROFESSIONAL EDUCATION THE KEY TO SUCCESS/BENEFITS OF PROFESSIONAL EDUCATION

When it comes to deciding which professional path to take the options appear to be varied and complex. That is why making decisions can be hard particularly if students do not have all the facts. Here are some benefits of professional education that can help a hesitating student to make the right choice:

Professional education is highly reasonable. Not like a traditional four-year college or university education, professional education is relatively low-cost. In some cases, the training could be charged to a credit card without exceeding the spending limit. Or a student can find a part-time job to save enough money to pay for the professional education in cash in a relatively short time. A personal loan from his or her bank could also pay for the essential training. Whichever method of payment students chooses none of them will leave them in serious debt for many years to come.

Professional education is convenient. In the comfort and privacy of a student's own home, his or her professional education can be carried out with a minimum of bother. Through computer and internet access everyone can start rewarding and fulfilling professions. There is no need to arrive at an overcrowded university campus. Instead, a student can take his or her training at his or her leisure because it is up to him or her when, where and how long a student wants to immerse himself or herself in his or her studies. A student may set his or her schedule and pace for the professional education which leaves him or her definitely in control of his or her life.

Professional education is wide-ranging. It gives a student limitless opportunities to learn about any number of subjects and topics. Many people take pleasure in the role of teacher and they make their broad knowledge obtainable to others through

professional education courses. All students have to do is take benefit of them through their computer and internet access. Because experts are teaching the course of their preference they can be sure that they are getting the best training obtainable.

Professional education is efficient. Upon achievement of a course, students' skill and knowledge level will be at peak condition because professional education provides real-world experience. Instead of studying the theory of an exacting discipline students will do the work as if they are already on the job. Professional education gives hands-on interactive instruction. There is no replacement for real-world experience and that is precisely what professional education gives. It is evident from these benefits that professional education is a very viable alternative for people who want to have a professional and be successful. Professional education permits a person to choose an exact topic and gain a wide knowledge and skill set. Employers then hire the person because they have received specialized practical training and experience in a certain area of knowledge. So everyone should ask himself or herself if he or she wants to waste time and money getting a degree that he or she may or may not be able to use to get a job or would he or she rather gain a specialized skill in a short amount of time without acquiring a large debt and land a great job?

PROFESSIONAL DEVELOPMENT COURSES

Professional development is increasing knowledge or skill throughout education in a person's professional field. Usually, a person initiates a professional development course to build up his or her knowledge and contribute to organizational development. Professional development courses are not just appropriate for people in the field of business management but are equally significant for other professionals in different fields.

While one can reach professional development throughout vocational education that prepares learners for professionals that are usually non-academic, others enroll for short-term courses or skill-specific courses for enhancing their expertise. Profession-specific courses and workshops also offer perceptive information on developing one's professional and indeed aid in the development of one's profession.

Professional development courses are either general or skill-based. General professional development provides general skills, throughout essential personal education. Skilled development conversely, deals with the present profession, leadership qualities, managerial skills, and enhancing a person's productivity. The courses are designed to develop a person's level of ability and professionalism. The successful completion of the course opens opportunities for limitless growth.

Professional development training courses are not just appropriate for people in business or organization but are in addition significant for professionals such as teachers, technicians, nurses, and engineers. A number of these professional courses are formally

recognized and certify the candidates, on completion. This recognition is an additional benefit of being taught at professional development institutes.

The professional development course makes certain occupational education and assists beginners in choosing the right professional, at the very start. Professional development institutes host a series of seminars and workshops, to give knowledge to mentors and knowledgeable businessmen. In addition, there are trade-specific seminars conducted, to offer professionals in-depth information on exact professions. Professional-based programs held by professional development institutions are extremely useful in deciding the best professional alternative obtainable. In the past decade, courses of professional education have undergone two major and connected changes in emphasis. First, the emergence of a discourse of competence had led to the assessment of specifically practice-based 'competencies' (Usher & Edwards, 1994, pp. 103-111; Hodkinson & Issitt, 1995, p. 1). This development has underpinned changes in curricula so that to a significant extent, performance at work now drives curriculum planning in programs of professional education. Secondly, and of greater relevance to the thrust of this article, is the move towards courses of professional education being located either primarily or substantially in the workplace, rather than in an academic institution. The purpose of this paper is to examine some of the consequences of this latter change for the initial professional education of two groups of professionals: teachers and youth workers. At Brunei University there are courses of initial professional education for both of these groups.

CONCLUSION

Choosing an ideal professional path is not an easy process. To find your true profession, you need to dig around and find the things that are important to you. To find a professional that fits your core beliefs, values, and skills, you need to do an in-depth evaluation of yourself. Ask yourself what do you find fulfilling in life? What are your priorities? What is your life purpose? What motivates and interests you? Until you can answer these and other important questions satisfactorily, you will not be able to take a step towards finalizing your professional plans. Life is short, as the old saying goes, and you should not waste several years traveling down a professional path only to discover that you have made the wrong choice. So take a look inside your soul, and discover your true calling in life to formulate the right professional strategy.

References

Smirnov A.G., ed. (1991). The System of Higher Education in Western Countries, Vols 1 and 2. Moscow: University of People's Friendship Press.

Tikhonov A.N., ed. (1996). Higher and secondary professional education in Russia. Moscow: Scientific Research Institute of Higher Education Press.

World Education Report 1993. Paris: UNESCO. [This UNESCO reports present

and review extensive statistical data on education throughout the world.] UNESCO (1998). World Education Report 1998. Paris: UNESCO.

Zeichner, K. & Gore, J. (1990) Teacher socialization, in W. Houston (Ed.), Handbook of Research on Teacher Education. New York: Macmillan.

Usher, R. & Edwards, R. (1994) Postmodernism and Education. London: Routledge.

www.internet.com

THE INFLUENCE OF MATERNAL EMPLOYMENT ON THE ACADEMIC ACHIEVEMENT AND ADJUSTMENT OF THE ADOLESCENTS

Dr. Sunita Sharma
Associate Professor & Head
Department of Education
D.A.V. (PG) College, Muzaffarnagar, (U.P.)

Abstract

This study is designed to investigate the academic achievement and adjustment of adolescent through gender, status of mother and by the area of resident.

The working mothers have many challenges before them. She has to make adjustment with her family on one hand and workplace on the other hand. To cope up with these dual responsibilities is a challenge for her.

The most affected person in family is child. It has been clear from the above description that there is no clear cut picture emerged whether, having working mother makes a positive or negative effect on the children. Therefore, an effort will be made to study the academic achievement and adjustment level in the adolescents of both genders of working and the non working mothers children of rural and urban areas.

An effort will be made on the present investigation to find out the academic achievement and adjustment of the adolescent of the working mothers as compared to the adolescent of the non working mothers living in the rural and urban areas.

Key Words: Maternal Employment, Adolescence, Academic Achievement, Adjustment, Working mothers, Non-working mothers.

As the women are empowering themselves the number of working mothers is increasing day by day. This is good for social and economical growth of any country. But when we see the life of such women we find that their life is full of challenges. So the present study is designed to study to find out the influence of maternal employment on the academic achievement and adjustment of adolescents.

Objectives of the study:

1. To study the effect of maternal status i.e., working and non working mother on the academic achievement of students belonging to working and non working and non working mothers.
2. To study the effect of maternal status i.e., working and non working mothers on the academic achievement of male students belonging to working and non working mothers.
3. To study the effect of maternal status i.e., working and non working mothers on the academic achievement of female students belonging to working and non working mothers.

4. To study the effect of maternal status i.e., working of rural students belonging to working and non working mothers.
5. To study the effect of maternal status i.e., working and non working mothers on the academic achievement of urban students belonging to working and non - working mothers.
6. To study the effect of maternal status i.e., working and non working mothers on the adjustment of students belonging to working and non working mother.
7. To study the effect of maternal status i.e., working and non working mothers on the adjustment of male students belonging to working and non working mothers.
8. To study the effect of maternal status i.e., working and non working mothers on the adjustment of female students belonging.
9. To study the effect of maternal status i.e., working and non working mothers on the adjustment of rural students belonging to working and non working mothers.
10. To study the effect of maternal status i.e., working and non - working mothers on the adjustment urban students belonging to working mothers and non - working mothers.
11. To study the effect of maternal status i.e., working mother and non working mother on the emotional adjustment of students of working and non working mothers.
12. To study the effect of maternal status i.e., working and non working mothers on the emotional adjustment male students of working and non working mothers.
13. To study the effect of maternal status i.e., working and non working mothers on the emotional adjustment of female students of working and non working mothers.
14. To study the effect of maternal status i.e., working and non working mothers on the emotional adjustment of rural students of working and non working mothers.
15. To study the effect of maternal status i.e., working and non working mothers on the emotional adjustment of urban student of working and non working mothers.
16. To study the effect of maternal status i.e., working and non working mothers on the social adjustment of students of working mother and non working mothers.
17. To study the effect of maternal status i.e., working and non working mothers on the social adjustment of male students of working and non working mothers.
18. To study the effect of maternal status i.e., working and non working mothers on the social adjustment of female students of working and non working mothers.
19. To study the effect of maternal status i.e., working and non working mothers on the social adjustment of rural students of working and non working mothers.
20. To study the effect of maternal status i.e., working and non working mothers on the social adjustment of urban students of working and non working mothers.
21. To study the effect of maternal status i.e., working and non working mothers on the educational adjustment of students of working and non working mothers.

22. To study the effect of maternal status i.e., working and non working mothers on the educational adjustment of male students of working and non working mothers.
23. To study the effect of maternal status i.e., working and non working mothers on the educational adjustment of female students belonging to working and non working mothers.
24. To study the effect of maternal status i.e., working and non working mothers on the educational adjustment of rural students belonging to working and non - working mothers.
25. To study the effect of maternal status i.e., working and non working mothers on the educational adjustment of urban students belonging to working and non - working mothers.

Hypothesis of the Study :

Any Problem possesses a question and tentative answer to the question is called hypothesis. This hypothesis is helpful to give the research work a direction.

1. There will be no significant difference in academic achievement of the students belonging to working and non working mothers.
2. There will be no significant different in academic achievement score of male students of belonging to working and non working mothers.
3. There will be no significant difference in academic achievement score of female students belonging to working and non working mothers.
4. There will be no significant difference in academic achievement score of rural students belonging to working and non working mothers.
5. There will be no significant difference in academic achievement score of urban students belonging to working and non working mothers.
6. There will be no significant difference in adjustment score of students belonging to working and non working mothers.
7. There will be no significant difference adjustment score of male students belonging to working and non working mothers.
8. There will be no significant difference in adjustment score of female students belonging to working and non working mothers.
9. There will be no significant difference in adjustment score of rural students belonging to working and non working mothers.
10. There will be no significant difference in adjustment score of urban students belonging to working and non working mothers.
11. There will be no significant difference in emotional adjustment score of students belonging to working and non working mothers.
12. There will be no significant difference in emotional adjustment score of male students belonging to working and non working mothers.

13. There will be no significant difference in emotional adjustment score of female students belonging to working and non working mothers.
14. There will be no significant difference in emotional adjustment score of rural students belonging to working and non working mothers.
15. There will be no significant difference in emotional adjustment score of urban students belonging to working and non working mothers.
16. There will be no significant difference in social adjustment score of students belonging to working and non working mothers.
17. There will be no significant difference in social adjustment score of male students belonging to working and non working mothers.
18. There will be no significant difference in social adjustment score of female students belonging to working and non working mothers.
19. There will be no significant difference in social adjustment score of rural students belonging to working and non working mothers.
20. There will be no significant difference in social adjustment score of urban students belonging to working and non working mothers.
21. There will be no significant difference in educational adjustment score of students belonging to working and non working mothers.
22. There will be no significant difference in educational adjustment score of male students belonging to working and non working mothers.
23. There will be no significant difference in educational adjustment score of female students belonging to working and non working mothers.
24. There will be no significant difference in educational adjustment score of rural students belonging to working and non working mothers.
25. There will be no significant difference in educational adjustment score or urban students belonging to working and non working mothers.

Definition of Terms:

Maternal Employment:

Working woman although minor in terms of numerical strength are found to be self conscious, self assertive and confident, demanding equality with men in all spheres of life be it at home or outside world.

According to the educational review (Feb., 2003) found that "Traditionally it was believed that women were physically and mentally weak and hence they were not fit for risky tasks. But with the increasing empowerment of women in the world, now no jobs or profession is such, that woman cannot undertake. The empowerment of women is considered to be the key to the progress of the family and community. The group with the feeling of equality and adjustment grew with the changing environment.

Need and Importance used in the study:

The working mothers have many challenges before them. She was to make adjustment with her family on one hand and workplace on the other hand. To cope up with these dual responsibilities is a challenge for her.

The most affected person in family is child. It has been clear from the above description that there is no clear cut picture emerged whether having working mother makes a positive or negative effect on the chilled. Therefore, an effort will be made to study the academic achievement and adjustment level in the adolescent of both genders of working and the non - working mother's children of rural and urban areas.

Delimitation of the Study:

1. The area of study was delimited to Muzaffarnagar district.
2. Only students of intermediate were studied.
3. Rural and urban intermediate adolescents will be considered for the study.
4. Only Intermediate students of working mothers will be selected.
5. The sample Random method of sampling was applied for the selection of the sample.

Method of Study:

The basic purpose of this study was to find out how maternal employment affects the academic achievement and adjustment of adolescents. The basic nature of the study was discovered to be relational as it aimed at finding out how the three variables, maternal employment, Gender and area of the adolescents were related to each other.

In order to achieve the objectives an appropriate strategy was identified on the basis of research conducted so far in the area. Having read researches the investigator reached a conclusion that a descriptive or normative survey method was best suited to the study. Descriptive survey method was best suited to the study.

The Population:

The population to which result obtained in this study has been defined as the teacher and the students studying in the senior secondary school of Muzaffarnagar District. The teachers and the students of senior secondary schools from the population for the purpose of this study. Thus, the result obtained from the present study would be applicable only to the population of students community studying in the senior secondary school in Muzaffarnagar District.

The Sample:

The sample of study consists of 160 subjects as working mother and 160 subjects as non working mothers. Each groups represents 80 subjects as male and 80 subjects as female.

Analysis:

After collecting the data it was analyzed by using statistical techniques such as Mean, Standard deviation and ‘t’ test for finding the significance difference between the two groups.

The statistics thus obtained are analyzed and conclusions were drawn as followes:

Conclusions:

Following conclusions are drawn on the basis of the findings of the study.

1. The study reveals that the students of working mothers are academically superior to their counter part children of non working mothers.
2. The study reveals that the female students of working mothers are academically superior to their counter part female children of non working mothers.
3. The study reveals that the male children of non working mothers are emotionally superior to their counter part male children of working mothers.
4. The study levels that the female children of working mothers are emotionally superior to their counter part female children of non working mothers.
5. Girls of working mothers have academically better achieved than the girls of non working mothers.
6. Boys of non working mothers are better emotionally adjusted than the girl of non working mothers.

References

- **Baruch, G.K.(1972).** Maternal influence upon college women's attitude towards women and work. Development Psychology. pp. 6, 32-37.
- **Bose, Utpala (1985).** Child rearing attitudes of working and non-working mothers. Psychological Research Journal, pp. 9 (2), 54-61.
- **Dagmar K; an Ellis, G. (2000).** The relationship between parenting style and children's adjustment : The parents perspective. Child and family studies, pp. 9 (2), 231-245.
- **Douvan, E., (1963).** Employment and the adolescent in F.I. Nye & C.W. Hoffman (eds). The employed mothers in America Chicago : Rand Menalley.
- **Hoffman, L.W. & Youngblade, L.M. (1999).** Mothers at work. Effect on children's well being. Mew York : Cambridge university press.
- **Hoffman, L.W. (1963).** Mothers enjoyment of work and effect on the child. In F.I. Nye and LW. Hoffman (eds.). The employed mothers in America. Chicago : Rand Menally.

****

A Study of Online Marketing Managing Customer Focus in Relationship Marketing.

(A Case Study of Selected Indian Companies)

Dr. Umesh Chand Sharma
Associate Professor and Head
of the Department Of commerce
M.M.H College Ghaziabad (UP)
&
Preeti Sharma
Research Scholar
Department of commerce
M.M.H College Ghaziabad (UP)

Abstract

The present study was designed A study of online marketing in managing customer focus in relationship marketing. The main objective of the study was to know the relationship of online marketing and customer relationship marketing a case study of selected some Indian companies.

The sample for the present study consisted of 200 customers respondents (100 male and 100 female) of different age group and professions of Meerut district (UP).

In the order to access internet is a mainstreaming among professionals and common man. More people spend more online in India every year, and the digital tools and sites they use play an ever- growing role in their lives. Smart marketers keep on top of the scale of change and ensure their marketing policies and touch point mirror where the customer is spending their time.

The result revealed that online marketing gives a managerial description to internet and World Wide Web to their customer.

Keywords: - Online marketing, Managing customer, Relationship marketing, Indian companies.

INTRODUCTION:

On-Line Marketing

In the current competitive era, the Internet is one of the main sources of business promotion for any company. There has been a rapid increase in the number of Internet users over the years. Therefore the Internet is a beneficial source of promoting commercial

products and services. As online brands struggled to market their goods and services, social networking websites tend to generate interest in the company's brand as well as create an impact in the minds of consumers.

Due to tremendous changes in information and communication technology, dynamism and innovation in various modes of communication, quick access to information has given rise to new tools of communication and social media. It has also instilled confidence in the minds of the customers, which will lead to good brand building activities. Generally companies are using social blogs, networking sites like Facebook, LinkedIn, Twitter, YouTube, Amazon India, Myntra, Snapdeal, Paytm, eBay India etc. to do easy marketing of their products in online consumer markets.

Online marketing has now become a burning topic in every business sector, and step by step plays a really important role in the multi-channel marketing strategy of any company. The technology revolution has led to companies adopting Internet and online marketing strategies to facilitate promotional marketing messages to customers. This includes e-mail marketing, search engine marketing, social media marketing, and various types of exposure advertising (including web banner ads) and mobile advertising.

Online Shopping/E-Commerce

Today's customers invest most of their energy in the web for their purchasing decisions. Consumer decision making is nothing but a choice made by the consumer among the available choices of products or services, it is observed that the decision process of consumers is complex in nature and involves various factors like-

- Identifying the problem before taking various actions to arrive at the purchase result.
- It also describes the various stages,
- Consumers first identify their needs and
- Then go to Collect Info.
- Evaluate the options and then make the final buying decision.

All these actions are determined by both psychological and economic factors, they are influenced by environmental such as cultural, group and social values.The development of new correspondence and data innovations of Internet customers has introduced another offering Realty. This new inflation changes the relationship between organizations and customers.

Internet technology has been frequently used in the daily life of the customer over the years and has touched all parts of the customer's life in a short span of time throughout the last section of the 20th century. Multidimensional changes in technology around the world have changed the way of communication. Information technology by trade vendors and traders to aid their trading activities.

Relationship Marketing

Relationship marketing used to be measured as a stem of marketing, from across the board marketing campaigns that emphasize customer retention and their satisfaction, rather than highlighting a simple sales contract. Relationship marketing differs from the other stem of marketing in that it considers the enduring value of customer relationships and extends communication beyond aggressive marketing and sales promotional messages. With the development of technology, the Internet, and mobile platforms, relationship marketing continues to gain traction as technology makes more collaborative and social channels clear.

Getting new customers is one of the most costly and difficult tasks for any business organization in today's scenario. Capturing the attention of an expected customer, producing a converting pitch, and then helping to drive a sale can be a huge expense when each step in the business is considered for making the appropriate decisions.

It is the art and science behind achieving, developing and maintaining long term relationships with leading brand audiences and the public by sincerely fulfilling the best that enables the support to achieve peak performance results.

Putting Relationship Marketing to Good Use

- Marketing companies in the relationship conduct market surveys regularly to get consistent feedback from their customers.
- Companies try to implement that research feedback into their business policies and operations as quickly as possible.
- Companies are increasingly using social media outlets to keep in touch with their customers.
- Companies have efficient customer monitoring technologies.
- Here the organization implements safe and secure policies, both positive and negative, to determine how all employees of the company should integrate with customers.

The main focus of relationship marketing is to retain customers and make them ordinary buyers. Presented customer relationships are the main spotlight of marketing. The reason we target the proposed customer stand is because there is no customer benefit cost, low key points, discounts or vouchers, bargaining cost compassion, increased transfer potential and profit or assured growth of revenue and selling price.

Customer Relationship Management

CRM is used as a tool to enhance the performance of a business firm. However, CRM plays an important role in service oriented organizations. With the emergence of information technology there have been a lot of changes in terms of efficiency and speed of services to the customers. Business organizations have realized that CRM is not a one-time programme, it is a continuous process of up-gradation and innovation with an environment of enhancing information technology to delight the customers. The traditional CRM on the technology platform is being replaced by e-CRM to bring efficiency and

speed to the customer relationship process. CRM is the process that is used from the application of data to the sales process. It is designed to build long-term relationships and build loyalty with customers backed by a personal touch and technology. It is not related to marketing and sales. This is to build relationships with customers continuously through various touch points, whether online or offline. It starts from the stage of customer acquisition, customer interaction and customer loyalty. It is a management process of attracting new customers by considering their needs, retaining customers by meeting their requirements exceeding their expectations and applying a marketing strategic approach to the specific customer.

Customer Relationship Management is complete approach and procedure of acquiring, retaining and partnering with select customers to create superior value for the company and the customer**.**

CRM is the way of dealing with or dealing with customers and developing relationships. It involves combining an organization's marketing, sales, customer service and supply chain functions to deliver improved productivity and helpfulness while providing value to customers.

Some Reputed Selected Indian Online Shopping Sites

Several online shopping sites that lead e-commerce B2C systems, such as

Here may be a list of online shopping sites:

- Flipkart
- Naaptol
- Spadeal
- Firstcry
- Myntra
- Jaobong
- BigBasket
- Infibeam

Objectives of the study:

To gives a managerial description of the Internet and the World Wide Web to the organization.

Hypothesis of the study:

In the light of the above objectives, the following hypotheses may be formed:

Null Hypotheses (H_0):

- Online marketing does not give a managerial description to internet and World Wide Web to their customer.

Alternate Hypothesis (H_1):

- Online marketing give a managerial description to internet and World Wide Web to their customer.

Operational definitions of the variables

The major terms used in this study are

On-Line Marketing: Online marketing is advertising a business's products, goods and services on the Internet.

Managing Customer: Customer Relationship Management is complete approach and procedure of acquiring, retaining and partnering with select customers to create superior value for the company and the customer**.**

Relationship Marketing: The main focus of relationship marketing is to retain customers and make them ordinary buyers.

Indian companies: Several online shopping sites that lead e-commerce B2C systems, such as

Here may be a list of online shopping sites:

- Flipkart
- Naaptol

POPULATION OF THE STUDY:

A population is the totality of an object under consideration the population for the purpose of this study has been defined an attempt is made to analyze the field data in relation to online marketing in managing customer relationship impact on Meerut district.

SAMPLING TECHNIQUE:

The observation in this research paper basically based on field survey conducted on (200 samples 100 male and 100 female)

TOOL USED:

The research used self made questionnaire. It is having more than 70 questions. These questions are based to judge on the performance of online marketing of Meerut district of Utter Pradesh.

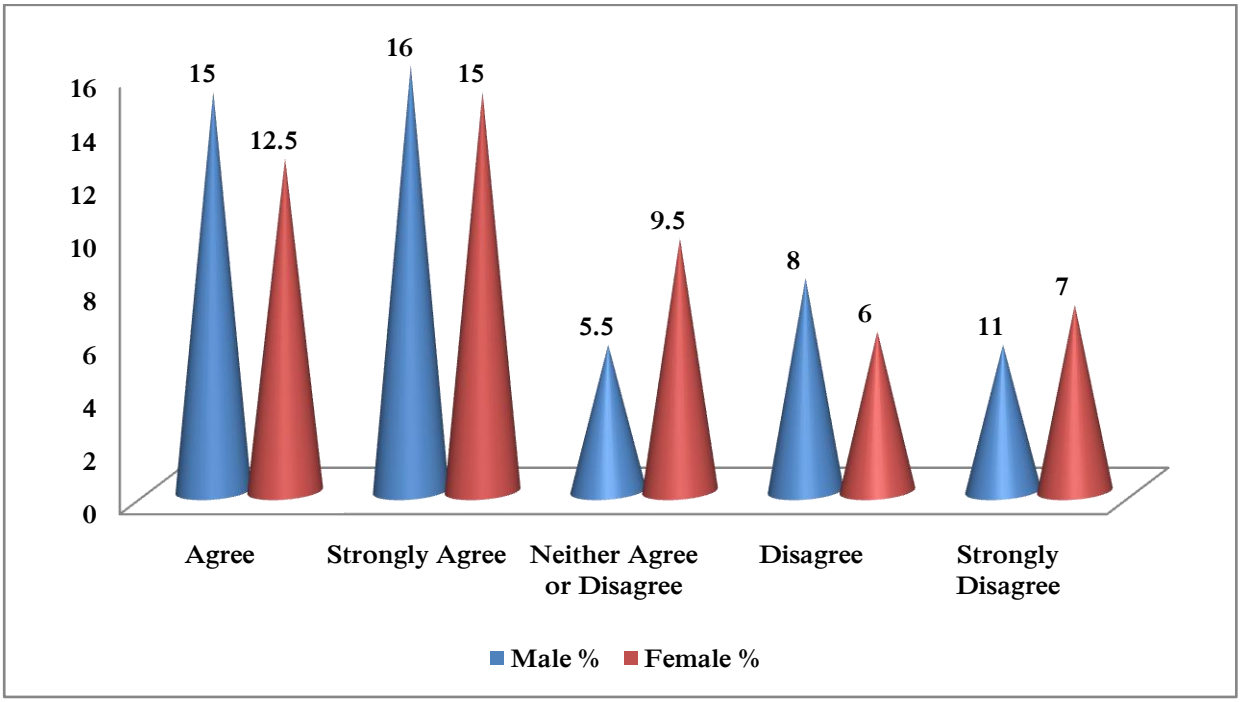
Analysis and Interpretation of data:

Online marketing give a managerial description to Internet World Wide Web to their customer

Sr. No.	**Particulars (N=200)**	**Male Respondents (N=100)**	**%**	**Female Respondents (N=100)**	**%**	**Total (N=200)**	**%**
01	Agree	30	15	25	12.5	55	27.5
02	Strongly Agree	32	16	30	15	62	31
03	Neither Agree or Disagree	11	5.5	19	9.5	30	15
04	Disagree	16	8	12	6	28	14
05	Strongly Disagree	11	11	14	7	25	12.5
	Total	**100**	**50**	**50**	**50**	**200**	**100**

Source:-Field Survey

Above table shows analysis of online marketing give a managerial description to Internet World wide web to their customer here with the help of chi-square test, researcher tested the first Hypothesis.



Conclusion

Calculation of chi-square values

D.F	At 1% and 5% level of Significance the table value	$\chi 2$
04	9.488 & 13.277	29.45

It is found that , the calculate value of chi-square ($\chi 2$) is 29.45, whereas for 04 degree of freedom at 5% and 1% level of significance the table value is 9.448 and 13.77. Since, the calculated value of $\chi 2$ is more than the table value therefore, null hypothesis is rejected and alternative hypothesis is being accepted.

Here **Hypothesis H_0-** online marketing does not give a managerial description to Internet and World Wide Web to their customer.

Hypothesis H_1- online marketing gives a managerial description to Internet and World Wide Web to their customer.

Here the present hypothesis i.e. online marketing gives a managerial description to Internet and World Wide Web to their customer is accepted.

BIBLIOGRAPHY

1. Tripathi C. P. Dr., "Personnel Management and Industrial Relations", 19th revised edition ISBN 81-8054-450-8

2. Gupta . S. Dr. and varshney. R. Dr., "Marketing Management", 3rd revised edition ISBN 81-8054-338-2
3. Ratna v.v. Dr. and gupta l.S. Dr., "Advertising and Sales Promotion", 1st edition ISBN 81-8054-111-8
4. Pal Sumitra and Gupta S. Dr., "Consumer Behavior", 1st edition reprint ISBN 81-7014-795-6
5. Kolter Philip, "Marketing Management", 8th edition, Prentice Hall of India Pvt. Ltd. Dorling Kingdersley (India) Pvt Ltd
6. Kothari R. C., "Research Methodology" 2nd edition, Wishwa Prakashan
7. Agnihotri and Kotler Philip, "Principle of Marketing", 13th edition Pearson Education
8. Stanton William J, "Fundamentals of Marketing" (TATA Mc Graw Hill)
9. J.B. Walker, J.M. Etzel and J William Stanton, "Marketing concept & Cases special Indian Edition",13th edition Tata Mc Graw Hill.
10. Rai Kumar Alok, "Customer Relationship Management" Concepts and Cases 2nd edition -PHI Learning
11. Maklan Stan, Payne Adrian, Knox Simon, "Customer Relationship Management" Routledge Inc.
12. Kerr Carol and Anderson Kristin, "Customer relationship management", McGraw-Hill
13. G Shainesh, A. Parvatiyar and N. J. Sheth, "Customer relationship Management", Emerging Concepts, Tools, & Applications, Tata McGraw-Hill Education

REFERENCES SITES

- www.google.com
- www.wikipedia.com
- http://www.gobookee.org/

Journal of Socio-Educational & Cultural Research, Vol. 6, No. 13, July-Dec., 2020 ISSN : 2394-2878

लोक गीतों का अप्रतिम सौन्दर्य और आंचलिक हिन्दी उपन्यास

डॉ० अर्चना धामा
ऐसोसिएट प्रोफेसर (हिन्दी विभाग)
डी०ए०वी०(पी०जी०) कॉलेज, मुजफ्फरनगर

शोध सारांश –

लोकगीत जनमानस के भाव पुत्र होते हैं। यह एक युग की सांस्कृतिक धरोहर और भाव लोक का आगामी युगों में प्रतिनिधित्व करते हैं। इनमें जीवन की सच्ची, अनूठी तथा सहज छाया मिलती है। वास्तविकता इनकी आत्मा है। लोक की तीनों मूल पूरक अभिव्यक्तियां – गीत, संगीत तथा नृत्य – इनके सहज सौंदर्य एवं सरसता को बढ़ाती है। लोकगीतों में यथार्थ की मिट्टी की गंध, सामान्य जन के पसीने की महक एवं जनमानस का स्पंदन गतिमान रहता है। प्रणय की सिंदूरी आभा उनकी उषा, मिठास और गुनगुनी धूप में महकती है।

लोकगीत स्वतः स्फूर्त प्राकृतिक काव्य के अंग है। उनका महत्त्व तो उनकी सहज रसोद्रेक की शक्ति तथा सरल सौंदर्य रहता है। व्यक्ति विशेष की भावनाओं का प्रतिनिधित्व न कर, लोकगीत समुदाय की भावना के कहीं अधिक सच्चे प्रतीक होते हैं। समय के व्यवधान से लोकगीतों के बाह्य स्वरूप में कतिपय परिवर्तन अवश्य होते हैं किंतु उनके अनेक मूलभाव तथा अभिव्यक्ति की अपनी विशेष शैली सामान्यतः अपरिवर्तित ही रहते हैं।इस शोध में आंचलिक उपन्यासों के माध्यम से विभिन्न जनजातियों और समाजों के लोकगीतों को समझने का प्रयास किया गया है।ये लोकगीत इनके जीवन का आधार स्तम्भ हैं और इनके जीवन में उल्लास भरते हैं तथा जीवन को जीने योग्य बना देते हैं।

कुंजी शब्द : ग्रामगीत, हरपूपाण्डुम, सुरंगा, लोकमानस, रसोद्रेक।

परिचय और परिभाषाएं –

'लोकगीत' शब्द अंग्रेजी के 'फॉक साँग' का पर्याय है। 'फॉक सॉन्ग' जर्मनी के 'वॉल्क' शब्द का मूल रूपांतर है।

सामान्य रूप से कहा जा सकता है कि 'लोक में प्रचलित, लोक द्वारा रचित एवं लोक के लिए लिखे गए गीतों को लोकगीत कहा जा सकता है। इसका रचनाकार अपने व्यक्तित्व को लोक समर्पित कर देता है।'

लोकगीत की परिभाषाएं अनेक विद्वानों की है। श्री कुंज बिहारी दास की परिभाषा इस प्रकार है – 'लोकगीत उन लोगों के जीवन की अनायास प्रवाहात्मकता की अभिव्यक्ति है जो सुसंस्कृत तथा सुसभ्य प्रभावों से बाहर रहकर कम या अधिक रूप में आदिम अवस्था में निवास करते हैं।

डॉ० सदाशिव कृष्ण फड़के ने लोकगीतों को लोकमानस के तरंगायित रूप से निःसृत काव्य रूप माना है –शास्त्रीय नियमों की विशेष परवाह न कर, सामान्य लोक व्यवहार के उपयोग में लाने के लिए मानव अपने आनंद की तरंग में जो छन्दोबद्ध वाणी सहज उद्‌भूत करता है, वही लोकगीत है।

लोकगीत शब्द के तीन अर्थ हो सकते हैं–

– लोक सृजित गीत
– लोक में प्रचलित गीत
– लोक विषयक गीत

तत्त्व–

लोकगीतों में निम्नलिखित तत्त्वों का समावेश रहता है–

(1) लोक–मानस की लयात्मक अभिव्यक्ति
(2) लोक का प्रतिबिंब प्रस्तुत करने वाली अभिव्यक्ति
(3) लोक की स्वेच्छा एवंस्वतः स्फूर्ति जन्य अभिव्यक्ति
(4) लोक के लिए एकस्वरकार की स्वराधृत अभिव्यक्ति

डॉ० श्याम परमार की मान्यता है कि लोकगीतों को इनकी नैसर्गिगता के लिए जाना जाता है –गीतों में विज्ञान की तराश नहीं, मानव संस्कृति का सारल्य और व्यापक भावों का उभार है। भावों की लड़ियां लंबे–लंबे खेतों सी स्वच्छ, पेड़ों की नंगी डालों सी अनगढ़ और मिट्टी की भांति सत्य है।

डॉ० रामनरेश त्रिपाठी के अनुसार –ग्रामगीत प्रकृति के उद्‌गार हैं। इनमें अलंकार नहीं, केवल रस है। कन्द नहीं केवल लय है।। लालित्य नहीं, केवल माधुर्य।।। ग्रामीण मनुष्यों के, स्त्री पुरुषों के मध्य में हृदय नामक आसन पर बैठकर प्रकृति गान करती है। प्रकृति के वे ही गानग्रामगीत हैं।

इनके कथन में प्रयुक्त 'ग्रामगीत' शब्द का तात्पर्य लोकगीत से ही है। लोक–संस्कृति की विवृत्ति भी लोकगीतों की एक आवश्यक विशेषता होती है। देवेंद्र सत्यार्थी के शब्दों में .....लोकगीत किसी संस्कृति के मुंह बोलते चित्र हैं।

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने लोकगीतों के संबंध में अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किए हैं –नीले आकाश के नीचे प्रकृति के बहुरंगी परिवर्तन, युद्ध और शांतिमयजीवन के चित्र एवं विधाता की स्त्री संज्ञक रहस्यमयीसृष्टि की मानवीय जीवन पर प्रसाद और विषादमयी छाया ..... ये इन गीतों के प्रधान विषय हैं, जो शतकोटि कंठो से सहस्रों बार गाए जाने पर भी पुराने नहीं पड़ते और जिनकी सतत् किलकारी वायु में भरे हुए चितरंजन स्वर की तरह सर्वत्र सुनाई पड़ती है। गीत मानो कभी न छीजने वाले रस के स्रोत हैं। वे कंठ से गाने के लिए और हृदय से आनंद लेने के लिए हैं।

प्रवृतियां –

लोकगीतों की कुछ सामान्य प्रवृतियां इस प्रकार है–

(1) समान ध्वनि के लिए निरर्थक शब्दों का प्रयोग
(2) लयपूर्त्यर्थक योजना
(3) संबोधनपरक शब्दों का प्रयोग
(4) ध्वन्यात्मकता हेतु बीच में तुक मिलाने की प्रवृत्ति
(5) एक ही अर्थ वाले दो शब्दों का प्रयोग
(6) निषेधात्मक शब्दों का प्रयोग
(7) पुच्छ पदों की योजना
(8) एक ही वर्ण से प्रारंभ होने वाले शब्दों का पास–पास प्रयोग।

विभिन्न आंचलिक उपन्यासों में लोकगीतों का सौन्दर्य–

आंचलिक उपन्यासों के आलोक में विभिन्न जनजातियों और अंचलों के प्रचलित लोकगीतों को जाना और समझा जा सकता है कि ये लोकगीत इनकी लोक संस्कृतियों के आधार हैं।

'वन के मन में' में बिहार के सिंह भूम–अंचल की एक विशेष जनजाति 'हो' का जीवन चित्रित है।

यहां सप्ताह में एक बार बाजार लगता है। उसी बाजार में 'हो' लोग अपनी आवश्यक वस्तुएं लेने जाते हैं। स्त्रियाँ और पुरुष उल्लासपूर्वकबाजार जाते हैं। स्त्रियों और पुरुषों की टोली अलग–अलग हो जाती है। स्त्रियां एक दूसरे की कमर में बाह डाले आगे–आगे चलती हैं और गीत गाती हैं–

नायेर नेर नेलायचिगो,दोयारे नेलाय
निया जूड़ी भांति एदो, कायनेलो नेलो

अर्थात् सामने देखा, पीछे देखा, पर हाय। मेरा प्रेमी कहीं नजर नहीं आता।

पुरुषों के दल में कोई बांसुरी बजाता, कोई ताली पीटता, कोई मस्त होकर स्त्रियों के सामने उछलने लगता है। जब स्त्रियां एक बार गीत समाप्त करती हैं तो पुरुष उसे रोक लेते हैं ———'नायेररे नेलायचिगो, दो

'नायेर रे नेलायचिगो, दोयारे नेलाय,
लिया जूडी गांतिएदो, कायनेलो नेलो

अर्थात् सामने देखा, पीछे देखा, पर हाया। मेरी प्रेयसी कहीं नजर नहीं आती।

हो लोग वसंत में बा–परब में नृत्य करते हैं। युवक युक्तियां इस नृत्य में एक दूसरे को कोसते हुए गले लगते हैं। इस समय पहाड़ों पर वन में आग भी लग जाती है। युवक वन की आग युवतियों को दिखाकर गाते हैं–

बुरु दारु लोताना, सबेन होड़ोकोने लेया,
निया जिया लोताना, लोकोय नेलेया।

अर्थात् पहाड़ जंगल जल रहा है,
सभी उसे देखेंगे
पर मैं प्रेम–दाह में जल रहा हूं,
तो कोई नहीं देखेगा।

युवकों का गान शेष होने पर युक्तियां उत्तर देती हैं–

बुरू दारू लोताना, सबेन होड़ो को ने लेया,
नियाजिया लोताना, नोकोय नेलेया

अर्थात्–पहाड़ जंगल जल रहा है,
सभी उसे देखेंगे।
पर मैं प्रेम दाह में जल रही हूं,
तो कोई नहीं देखेगा।

'जंगल के फूल' में बस्तर की गोंड जनजाति का चित्रण है। ये लोग वर्ष में एक बार 'लाडूकाज' पर्व मनाते हैं जिसमें नारायण देव की पूजा की जाती है। इससे इनका गांव वर्ष भर आपदाओं से सुरक्षित रहता है। इसी खुशी में यह गाने बजाते और नाचते हैं। गीत गाये जाते हैं, लड़कियां और लड़के मिलकर गाते हैं –

तेर ना नी ने ओ, तेर ना ना के नाँव रे।
तेर ना ना, ना ना, तेर ना ना के नाँव रे,
तेर नाना ओ।

गांव में आए मेहमानों के मनोरंजन के लिए भी नृत्य वह गीत का आयोजन होता है। गांव में गोरे अफसर के आने पर युवक युवतियों सहित सलुकसाए और महुए नाचते हैं वह गीत गाते हैं।

घन रे अंगरिज बा
तोरी अक्कल मारी रे,
रे रे रेलो रे रे लो रे।
अधरे, चलाय रिलगारी, हो
रिलगारी, रे।

जब गांव में तहसीलदार आकर ठहरता है तब भी नृत्य व गीत का आयोजन किया जाता है। घोटुल के सारे सदस्य एक साथ स्वर निकालकर गाते हैं –

तैना नामुर रे ना ना
तुमी नाका जोड़ा, हामी नाकुंदे खड़क सरकार चो।
रेयत के दंड पडलीदरमा ठाना चो सड़क
हो तै ना ना मुर।

विवाह के लिए लड़की को उसकी सखियां सजाती हैं और गीत गाती हैं –

सिरपुर हेले डोरी निवेदेके दाकाट रोए
सांगो निवेदके काकट रोय

अर्थात् – आज तुम कहां जा रही हो, मेरी साथिन? आदि–आदि यह एक विदा गीत है।

दुल्हन को चिढ़ाने के लिए भी सखियां गीत गाती हैं। सोमा के विवाह पर जलिया और महुआ एक साथ गाती हैं –

बरग सरपार ते, उदीतन सिरदार,
.....
सरपार ताहे हनद।
ताने इने पाय नदी

'हरपूपाण्डुम' पर्व में करदेंगल की पूजा के बाद युवक जंगल में शिकार के लिए जाते हैं। मातुल (ग्राम देवी) को भैंसे के खून से नहलाया जाता है और इसके साथ ही युवतियां गीत आरंभ कर देती हैं –

दादा ले । दादा ले,
ओरी ओरी सिंगार।
बानी बानी पुंगार।

दिवाली के पर्व पर युवतियां सज–धजकर दूसरे गांव में दिवाली नाचने जाती हैं। कोई एक युवती अपने दल का नेतृत्व करती है। गीत गाते हुए बिना पीछे मुड़कर देखें आगे बढ़ती जाती हैं –

नाना रे नाना सिल्सी रा रेला रे रेला रे रेला।

नाचते–गाते गांव के गायता के घर की ओर जाती हैं –

तीना नामुर ना ना रे, नाना नामुर

गेयता ना लोन बेकेरा लयोरे
ताना लोनो वाता रो लयोरे
ओना लोने मंजूरा लयोरे।

'सूरज किरण की छाँव' में स्त्रियां अपने बच्चों को सुलाने के लिए लोरियां गाकर सुनाती हैं। बंजारी की मां अपनी बेटी को लोरी सुनाती है –

परजा दुलारी हानी हानी, कजरा री कोयला,
बदरा छिपिस चांद अमरित बीर ला टोलरा।

हे दुलारी बेटी, धीरे–धीरे सो जा, मैं कोयल से काजल छीनकर लाती हूं। आज का चांद बादल में छिपा है। लेकिन फिर भी बड़े वीर उससे आमृत छीनकर लाएंगे। यह गीत अत्यंत रसपूर्ण है। एक–एक शब्द से महुआ से जैसे लांदा टपकती है।

एक अन्य गीत भी अपनी सरसता के कारण मोहक है –

तुई अजान लोकबिरे स्यमनी भाटी मुचकालिया
साले साले सोबदा सुआ सुआ सोबेदा।
छीतू न्चो जीवना रे स्यूनी भाटी मुचकलिया
सले साले सोवेदा मुलक सुआ सोबेदा।

ऐ बहन, तू बहुत अनजान है, स्यूना झाड़ की तरह तू हलकी है, सुकुमार है। साले पेड़ के समान तू सबसे हिलमिल जाती है, सुए के समान तू सबसे बातें करने लगती है। ———

बंजारी को पटेल के घर से चंग की आवाज सुनाई देती है। कुछ लोग वहां मिलकर गा रहे होते हैं ––

घुमडि रहे चारि खूटँ कारे बादर,
घुमडि रहे।
कौन पटि गरजे, कौन पटि घुमड़े
कौन पटि बुदला चुहाय।

गीत के बीच–बीच में 'हकार' के स्वर सुनाई देते हैं तो पता चलता है कि गीत के साथ नृत्य भी हो रहा है।

हरपूपाण्डुम के उत्सव में नृत्य किया जाता है। नृत्य के समय गाए जाने वाले गीत में दोनों दलों में स्पर्धा लगी रहती है –

एक स्त्री जब राग अलापती है ––

ये हे हे, हाय रे हाय

तो पुरुषों के दल से जवाब आता है ––

ओ हो हाय रे हाय

फिर यही सवाल–जवाब की स्पर्धा का क्रम चलता है –

हे हे हे हाय रे हाय
मौला पयरी के साथ रे,
लय दे
हीरा रुनझुन बजि रे।
चुटुक टुचटुक तुर चुटकी बाजे,

पेरिन के झंकार,
आने गुस्सा के हाये,
महीं लगे हों पार। हो हो हो हाय रे हाय।

चितरकोट में आदिवासियों के सम्मेलन में सभी आदिवासी सम्मिलित होते हैं। वहां सभी अपने नृत्य व गीतों का प्रदर्शन करते हैं। नृत्य आरंभ देवताओं को स्मरण किया जाता है। बैगा आदिवासी आरंभ करते हैं –

तोरे हरे ना ना रे तोरे
पहिले गाय व पहले विनोयव
पहिले आखर गायब दाऊ, चाँद सूरज की सेवा।
दूसरे आखर गायब दाऊ, धरती माई की सेवा।
तीसर आखर गायब दाऊ, ठाकुर देव की सेवा।
चवथन आखर गायब दाऊ, काली माई की सेवा।
पाँचव आखर गायब दाऊ, आजी दादी की सेवा।
छाठव आखर गायब दाऊ, ठाकुर भैरो की सेवा।
सातवाँ आखर गायब दाऊ, सवा लाख बनस्पति की सेवा।

बैगओं के दल के बाद पहाड़ी मडिया भी अपने ढोल बजाने आरंभ करते हैं और गीत गाते हैं ––

हाट फिटी गेला हाट रे दिन हेला
जांग किटी गेला मां से
राती कौनो जाने दिन आस्ती
पुरुसोर डेर हेला।

'शानवनों का द्वीप' में घोटल में युवक युवतियां गीत गाते हैं –

रे रे लोयो, रे रे रे ला, रेलारे, रेला रेला रे रेला।
पारो माड़ी दमक ीते बारा कीय लतोन माजी
नोड़ोल वूदर सोलोड़ बेलोसा, सोलोड़ उराहतोन
बेलोसा सोलोड़, सोलोड़ उराहतोन
बेलोसा सोलोड़ उराहतीन।

घोटुन में लड़कियां गीत गाती हैं ––

कोको रे ऽ ऽ ऽ ऽ का रेंग।
आचींन रोय दादाख कोकोर कोरेंगा।
काकड़ रोय दादा, कोकोर कोरेंग।

'ब्रह्मपुत्र' में एक प्रसिद्ध असमियां लोक गीत में ब्रह्मपुत्र और जनजीवन का बहुत सुन्दर संतुलन है ––

ब्रह्मपुत्र कानो ते, बरहमूथरी जूपी
आमी खरा लोरा जाई
ऊटूबाई दी मनोता नाई।

दिसाँगमुख में मनाया जाने वाला बिहू उत्सव दूर–दूर तक प्रसिद्ध है। सभी युवक–युवतियां 'लाओ–पानी' (मादक पेय) पीते हैं तथा मादक स्वरों में बिहू का मंगलाचरण आरम्भ करते हैं ––

बिहू वा चिराय, करे बिहू बिहू
आमार बिहू कापर लाई
समनियाई सुचिले, कमे किये बूली
सरूते मरीले आई

बिहू के उल्लास में एक–से–एक बढ़कर नये–पुराने सभी प्रकार के गीत गाये जाते हैं। युवतियां गान आरम्भ करती हैं –

बिहू मारि थाकिवार, मने ओई लगरी
बिहू मारि थाकिवार मन
बिहू मारि थाकोते, पुलुवाई निनिवा
भारिबो लागिबो धन

दिसाँगमुख के कुछ लोक गीत इस प्रकार हैं 'गगन पर राजहंसों का एक जोड़ा उड़ गया।' तथा 'ब्रह्मपुत्र के किनारे रेत पर कछवी गिन–गिनकर अण्डे देती है। तथा एक गीत में कोई मुग्धा प्रेयसी का हाथ अपने हाथ में लेकर दिसांग नदी के बीच से होकर उस पार चला जाता है।

'सागर, लहरें और मनुष्य' में मुंबई के वरसोवा गांव के कोली लोग नारियल पूर्णिमा के जुलूस में समूह गान गाते चलते हैं –

ए रे भोला सर्जना वाला, वाला रे,
जाशी तू काशी का खंडाला, खंडाला
माई पित्याची कावर खंडाला, खंडाला
एरे भोला सर्वजना वाला।

होली के अवसर पर सब नाचते हैं, एक–दूसरे पर गुलाल फेंकते हैं और गाते हैं और से गाना आरंभ करती हैं ––

हाय, हाय होली खेला तू जाएगा
हाय हाय होली उरातू जाएगो।

उधर से पुरुष आवाज लगाते हैं ––

वालाचा काल केट झेउनी
वारा महिन्याची मांझी हौलू बाई

खेरत जाइ और उरत जाई।

'कोहरे में खोए चांदी के पहाड़' में अल्मोड़ा के भखोली गांव में 'मौन उत्सव' का दिन जैसे–जैसे टिकट आता है तो लोगों का उत्साह भी बढ़ता है और स्त्रियां रात–रात भर नाचती और गाती हैं।

मरोड़ मेले में स्त्री पुरुष नाचते गाते पहुंचते हैं। लड़कों की टोली बड़े उलाहने भरे शब्दों में गीत की एक पंक्ति गाती हैं तो उसका उत्तर लड़कियों की टोली दूसरी पंक्ति में देती है इसी क्रम से प्रश्नोत्तर चलता रहता है –

उदै कैरे नदीय सयना पाणि रै न सस्पैरे।
तेरो मेरो साथ सयना नादरिया को असौरे।

उदै कैरे नदीय सयना पाणि रै न समौरे।
तेरे मेरे विच दे सयना साँपो जशे तो सोरे,
संदौरे न बखते सयना दीपा बाड़ी बाटे रे।
साँप को न मुड़ बै सयना होंऊ मारूंगा काटे रे।

'हौलदार' में ग्वाले घोलछीना की ओर ऊंचे टीलों पर चढ़कर, एक हाथ कान के पीछे और एक होठों के पास आड़ा लगाकर एक–से–एक रसीले और श्रृंगारिक जोड़ गाने लगते हैं –

'काकडी को केर बाट में बैठक लियो, ओ–ओ–घौलछीलन लै जानू धुर–धुरा बे, तू, आली कबेर – घौलछिन लै जानू धुर–धुर वे, तू, आली कबेर – घौलछिल ले जानू घुर।

जीवन के कुछ पक्षों की मार्मिक अभिव्यक्ति वाले लोक गीत भी हैं –

लागी आग कमल–बन जला, कोकिल मई उदास–दिगो,
फूल खिला ऐसा हतभागी, भंवरा उड़ा अकाश। ––
बिघना करनी ऐसी करी–पानी गयो तालाब को सूख,
मछली तड़प डावे अधमरी । ––
बन में फूली केतकी, वन में ही मुरझाए –
भंवरा उड़ा आकाश को, उड़के लौट न आय।–– दिगौ ––

'हिरना साँवरी' में मध्यप्रदेश के छत्तीसगढ़ के ग्राम्य जन–जीवन का चित्रण है।

यहां दिवाली के अवसर पर मोहल्ले भर की लड़कियां एकत्र होकर सज–धज कर शाम के समय गीत गाती और नाचती भी निकलती हैं।

पहली गवन के डेहरी बैठारे,
छांड़ पिया जाथैं बानिज व्यौपार,
काकर संग खइयों, काकर संग खेलिहों
का देख रहियो मन बांध –––

हीरागढ़ की हवेली का गीत है ––

हीरा जो गढ़ नगरी आए
येरू गवाढ़ा पायोर आए
येरुंग मंजला न किल्ला आले
बरा रे हजार फौज आए –––
री रीना रीना रीना री रीना।
हीरा जो गढ़ ––– ।

'दो अकालगढ़' में बाबा मीतसिंह के मेले में गाना बजाना भी होता है।

जोड़ मेले में बोलियां गाने वालों के गुट अलग अपनी ही मस्ती में शोर मचाते रहते हैं। एक गुट में एक व्यक्ति गाने वालों में अगुआ होता है। वह भाव दिखाकर गीत का एक बोल उठाता है, तो उसके पीछे खड़े उसके साथी 'आहा।' या 'ओहो।' पुकार कर उसे अस देते जाते हैं अगुआ अपने बाएं हाथ को कान पर रखकर और दूसरे हाथ को हवा में लहराते हुए गीत का बोल उठाता है –

ओए जिंद माही। बाजरे दिया ... 'आहा।'
जिंद माही। बाजरे दिया छलिया
वे मेला देखने आए 'ओहो।'

वे मेला देखन आइयां जाहियां
वे हाथ विच्च शीशा ओए 'आहा।'
वे हाथ विच्च शीशा सवारन पट्टियां
वे जिंदड़ी रोल दित्ती 'ओहो।'

सांची से एक दिन पहले प्रसिद्ध लोकनृत्य भांगड़ा नाचा जाता है। उस दिन जोड़ मेले के सारे लोग भांगड़े वाले मैदान की ओर टूट पड़ते हैं। एक नौजवान कदम उठाकर आगे बढ़कर एक हाथ कान पर रखकर गाना शुरू करता है ––
ओए। ––– इस स्वर को लंबा खींचकर बोल आगे बढ़ाता है – ओए।

बारी बरसीं खटन गया।
बारी बरसी खटन गया
ते, खट के ल्यादा गहना।
नीं भर–भर वंड मुठ्ठियां
गोरे रंग ने सदा नहीं रहना।
बारी बरसी खटन गया,
ते, खट के ल्यांदी चाँदी।

जोड़ मेले में आने वाली कुछ टोलियां बहुत धार्मिक प्रकार की होती हैं। पहले तो ढोलक और चिमटों वाले लोग 'शब्द' का बोल उठाते हैं –

ओए भुल्या मना।
तूं राम क्यों ने जप्पें।

निहंग सिक्खों को वीर रस के गीत पसंद होते हैं। इन गीतों को गाने वाले को ढाढी कहा जाता है।
'सफेद मेमने' में गोगा जी पीर की 'भगती' में गीत गाए जाते हैं –रक्खे गाता है –
'सूत्यों रे गूगो च्हारो मदहक सरवरियै री पाल ... लेवैरे हिलोला जलधार ...'

'मैला आंचल' में मेरीगंज गांव में होली गाने वालों के अलग–अलग दल है। इनके पास ढोल, ढाक, झांझ–मृदंग और डम्फ हैं। यह होली भी गाते हैं, फगुआ, मंडौवा और जोडीगा भी।

होली का एक गीत इस प्रकार है
अरे बहियां पकडिं झकझोरे श्याम रे
फूटल रेसम जोड़ी चूड़ी
म्सकि गई चोली, भींगावल साड़ी
टांचल उडि जाये हो।
खेत में रोपनी करते समय 'बारहमासा' गाया जाता है।
अरे फागुन मास रे गवना मोरा होइत
कि पहिरु बसन्ती रंग है,
बाट चलैत–आ केशिया संभारि बान्हू
अँचरा हे पवन झरे हे ए ए ए।

खेतों में गेहूं काटते हुए मजदूरों की 'चेती' में आधी रात को कूकने वाली कोयल के गले की मिठास मदमस्त बना देती है –

सब दिन बोले कोयला भोर मिनसरवा ... वा ... वा।

बैरिन कोयलिया, आजु बोलय आधी रतिया हो रामा ... आ दृ आ

गांव में सुरंगा सदाब्रिज की कथा गाई जाती है। गांव के खलासी जी सुरंगा सदाब्रिज का गीत जानते हैं। वह यह गीत गाते हैं ––

नहीं तोरा आहे प्यारी प्यारी तेग तरबरिया से

नहीं तोरा पास में तीर जी। ...

यहां विवाह में गाया जाने वाला एक लोकगीत है। संथाल टोली में मादल की ताल पर गीत गाया जाता है –

सोनो रो रूप, रुपे रो रूप

सोनो से रुप लेका गातेञ मेलाय

गातेञ दिसोय रे सोना मुन्दोम

गातेञ उईहय जीवीदी लोकतिय।

निष्कर्ष –

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि लोकगीत अपने सरल एवं निष्कपट भाव सौन्दर्य के कारण काव्य के रूप में महत्त्वपूर्ण है। उनमें लोक–जीवन के सुख–दुःख, माधुर्य और करुणा, अश्रु और हास का भावपूर्ण चित्रण रहता है। पूर्वग संस्कृतियों को लोक गीतों से बल मिलता है और वे उसके विभिन्न अंगो को सम्बद्ध रखकर उसे विश्रृंखलित होने से बचाते हैं। लोकगीत लोक संस्कृतियों के आधार भी हैं और उनकी प्रेरक शक्ति भी हैं।

संदर्भ ग्रंथ :–

(1) लोक जीवन और साहित्य – डॉ० रामविलास शर्मा, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा।

(2) मानव और संस्कृति – श्यामाचरण दुबे, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।

(3) सांस्कृतिक मानव शास्त्र –लेखक – मैलविल जे० हर्सकोवित्स, अनुवादक – रघुराज गुप्त, भारती भवन देहरादून।

(4) वन के मन में – योगेन्द्र नाथ सिन्हा

(5) जंगल के फूल – राजेंद्र अवस्थी, पृ० 181,235

(6) सूरज किरण की छाँव – राजेंद्र अवस्थी, पृ० 27,29,77,128,129

(7) शालवनों का द्वीप– शानी, पृ० 55, 58

(8) ब्रह्मपुत्र – देवेंद्र सत्यार्थी, पृ० 138, 406

(9) सागर, लहरें और मनुष्य – उदय शंकर भट्ट, पृ०152, 222

(10) कोहरे में खोए चांदी के पहाड़ – जयप्रकाश भारती, पृ० 49, 50, 156

(11) हौलदार – शैलेश मटियानी, पृ० 138, 312

(12) हिरना साँवरी – मनहर चौहान, पृ० 146, 148–149

(13) दो अकालगढ़ – बलवंत सिंह, पृ० 489

(14) सफेद मेमने – मणिमधुकर, पृ० 87

(15) मैला आँचल – फणीश्वरनाथ रेणु, पृ० 60,61,73,79,131,133–134,197,227

शारीरिक दिव्यांगों के मानवाधिकारः एक समाजशास्त्रीय विश्लेषण

विनिश केवट
शोध छात्र, यू0जी0 सी0 नेट0
स्नातकोतर समाजशास्त्र विभाग
रांची विश्वविद्यालय रांची

सारांश

दिव्यांगता मस्तिष्क या शरीर की एक ऐसी दशा या स्थिति है जो व्यक्ति के कार्य करने को प्रभावित करती है तथा रोजमर्रा की गतिविधियों में भाग लेने की उनकी योग्यता में हस्तक्षेप करती है। दिव्यांगता किसी व्यक्ति की सिर्फ चिकित्सकीय समस्या ही नहीं है, बल्कि यह एक सामाजिक समस्या भी है। उदाहरण के लिए, यदि किसी व्यक्ति की देखने की क्षमता समाप्त हो गई है तो यह उसका अन्धापन है किन्तु उसके आसपास का परिवेश उसके कामकाज को कठिन और खतरनाक बना देता है। इस प्रकार वह व्यक्ति 'दिव्यांग' बन जाता है और उसके जीवन की गुणवत्ता दुष्प्रभावित होती है। इस प्रकार दिव्यांगता के मुद्दे के दो आयाम हैं – चिकित्सकीय और सामाजिक। दिव्यांग व्यक्तियों का समूह समाज में महिलाओं के समूह के बाद सबसे बड़े अल्पसंख्यक समूह का प्रतिनिधित्व करता है। दिव्यांगता व्यक्ति के जीवन में कभी भी आ सकती है, ज्यों–ज्यों स्वास्थ्य सेवाओं में सुधार होता जाएगा और व्यक्ति का जीवन दीर्घकालीन होता जाएगा तो उम्र बढते जाता है। इसके अतिरिक्त, दुर्घटनाएँ और चोट लगना अपंगता और दिव्यांगता के प्रमुख कारण हैं। यह सही कहा गया है कि हम सभी लोग 'अस्थायी रूप से गैर–दिव्यांग' हैं। इस प्रकार दिव्यांगता केवल दिव्यांग घोषित व्यक्तियों का ही विशिष्ट अनुभव नहीं है, बल्कि हम सभी अपने जीवन में कुछ समय के लिए इस प्रकार का अनुभव पाते हैं।

दिव्यांग व्यक्ति भी दिव्यांगता के प्रकार एवं दिव्यांगता की मात्रा की दृष्टि से एक दूसरे से भिन्न होते हैं। इसके अतिरिक्त जेंडर, वर्ग, जाति, नस्ल, नृजातीयता, यौनिकता, निवास तथा अन्य सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक कारक यह तय करते हैं कि दिव्यांगता को किस प्रकार अनुभव किया जाता है और किस प्रकार उसे समझा जाता है। उदाहरण के लिए, किसी ग्रामीण एवं कृषि समुदाय में किसी व्यक्ति का हाथ–पैर कटजाना एक गम्भीर दिव्यांगता समझी जाएगी क्योंकि इससे खेत में काम करके जीविका चलाना प्रभावित होता है। इस शोध पत्र के माध्यम से शारीरिक दिव्यांगों के मानवाधिकारों के विश्लेषण का प्रयास किया गया है।

मुख्य बिंदुः दिव्यांगता, मानवाधिकार, समाज, संस्कृति, कानून,

दिव्यांगता यथार्थ, विश्व, संस्कृति और सर्वाधिक महत्वपूर्ण रूप से हमारे स्वयं के शरीर के बारे में हमारी बुनियादी धारणाओं को चुनौती देती है। ऐतिहासिक रूप से, दिव्यांगता को व्यक्ति की शारीरिक एवं मानसिक सीमा के रूप में देखा जाता था। एक ऐसी सीमा जो व्यक्ति को इस तरह प्रभावित करती है कि इसके कारण व्यक्ति समुदाय और समाज के जीवन में उस प्रकार से सहभागी नहीं हो पाता जिस प्रकार गैर–दिव्यांग या तथाकथित 'सामान्य' लोग। उदाहरण के लिए, विकासात्मक दिव्यांगता को जन्मजात माना जाता है, जैसे मानसिक दिव्यांगता और संप्रेषण न कर पाना। कुपोषण एवं अल्प–पोषण की समस्याओं का परिणाम बच्चों के शारीरिक एवं मानसिक विकास को कमजोर बना देने वाली स्थितियों के रूप में सामने आ सकता है। कुछ प्रकार की दिव्यांगताएँ जीवन में दुर्घटना, चोट लगने या उम्र बढ़ने के कारण आ जाती हैं। दिव्यांगता स्थायी या सीमित भी हो सकती है जैसे किसी अंग का किसी बीमारी के कारण काट दिया जाना या शरीर की रक्षा के लिए उसको निकाल देना। इसके अतिरिक्त दिव्यांगता वृद्धिमान प्रकृति की भी हो सकती है जिसमें व्यक्ति की दशा समय के साथ बद से बदतर होती चली जाती है। "आमतौर पर जानी जाने वाली दिव्यांगताओं में शामिल हैं – अंधत्व, मूक–बधिर होना, पैर की दिव्यांगता, मानसिक मन्दता, प्रमस्तिष्क धात (जिससे भुजाओं आदि पर नियन्त्रण नहीं रहता) तथा मानसिक बीमारी।"[1] हाल ही में, सम्प्रेषणहीनता तथा सीख पाने की निर्योग्यता जैसे उच्चारण या वर्तनी में दोष होने की भी अधिक चर्चा होने लगी है।

कानूनी दस्तावेजों तथा नीतिगत अभिकथनों में दिव्यांगता को सार्वजनिक सहायता के सन्दर्भ में परिभाषित किया गया है। "भारत में अधिकार अधिनियम (2016) के अन्तर्गत 21 प्रकार की दिव्यांगताओं की पहचान की गयी है जबकि दिव्यांग अधिकार अधिनियम (1995) में दिव्यांगताओं की केवल सात ही श्रेणियाँ थीं।"[2]दिव्यांग व्यक्ति जनसंख्या के सर्वाधिक तिरस्कृत एवं अशक्त वर्ग में हैं। हाशिये पर होने के कारण, उन्हें अपने मौलिक, नागरिक, राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक अधिकार तक नहीं मिल पाते जिनकी लोकतन्त्र में गारंटी दी जाती है। दिव्यांगों की दुर्दशा तो और भी अधिक बुरी हो जाती है जब उन्हें जेंडर और दिव्यांगता के दोहरे दमन का सामना करना पड़ता है। दरअसल, दिव्यांग की श्रेणी न सिर्फ सामाजिक रूप से अदृश्यमान है बल्कि उनकी दुर्दशा समाज के अन्य वर्गों की तुलना में बहुत ही अधिक होती है। एक दिव्यांग को परिवार के लिए अभिशाप समझा जाता है और अक्सर उसके साथ दुर्व्यवहार और उत्पीड़न किया जाता है।

भारत में दिव्यांग जन की स्थिति

भारत की जनगणना (2011) के अनुसार, भारत में 2.68 करोड़ लोग किसी न किसी रूप में दिव्यांगता के शिकार हैं। यह भारत की समस्त जनसंख्या का 2.11 प्रतिशत है। इन कुल दिव्यांगजनों में से 1.5 करोड़ लोग पुरुष हैं और 1.18 करोड़ लोग महिलाएँ हैं। इस प्रकार कुल दिव्यांगजनों में महिलाओं का 44 प्रतिशत से थोड़ा ही अधिक है। इन आँकड़ों को रूढ़िवादी माना जाता है क्योंकि जनगणना में कुछ सीमित प्रकार की दिव्यांगताओं का ही उल्लेख किया जाता है। यदि दिव्यांगता की व्यापक परिभाषा का प्रयोग करें, जिसके अन्तर्गत मधुमेह और हृदय सम्बन्धी बीमारियों की दशाएँ भी शामिल की जाती हैं, तो "विश्व स्वास्थ्य संगठन (डब्ल्यू. एच. ओ.) का आकलन है कि जनसंख्या के 6 से 10 प्रतिशत हिस्से को पहचान योग्य शारीरिक या मानसिक दिव्यांगता का सामना करना पड़ रहा है।"[3] इसका तात्पर्य यह है कि भारत में 7 करोड़ से अधिक

लोग दिव्यांग हैं। इस बात को रेखांकित किया जाना चाहिए कि किसी देश में दिव्यांगजनों की कुल संख्या का आकलन कुछ कारकों पर निर्भर है और इसलिए यह आकलन परिवर्तित होता रह सकता है। ये आधार हैं – दिव्यांगता की वह परिभाषा, जिसका प्रयोग किया गया है; शरीर में क्षति की मात्रा; सर्वेक्षण प्रविधि आदि।

ऐतिहासिक रूप से, दिव्यांग लोग हमेशा भय, आतंक और तिरस्कार की भावना से ग्रस्त समझे जाते रहे हैं और प्रायः इन्हें अव–मानवीय रूप में आँका जाता रहा है। उनकी छवि एक सनकी, असहाय व्यक्ति के रूप में तथा परिवार और समाज के लिए आजीवन बोझ के रूप में निर्मित की गयी। यहाँ तक कि धर्म और मिथकों में भी दिव्यांगता के साथ नकारात्मक प्रवृत्तियों को आरोपित कर दिया गया, चाहे वह रामायण की मन्थरा हो, जिसकी पीठ में कूबड़ है या फिर महाभारत में वर्णित शकुनि की 'लँगड़े' की छवि हो। वास्तव में कर्म का सिद्धान्त बताता है कि दिव्यांगता पिछले जन्मों के कुकर्मों का दण्ड है। गैर–दिव्यांग लोगों द्वारा दिव्यांगों के बारे में किया जाने वाला यह छवि निर्माण जनसंख्या के एक सम्पूर्ण भाग को ही हाशिये पर धकेल देता है और उन्हें अशक्त बना देता है। इसके साथ ही साथ दिव्यांग लोग स्वयं भी अपने बारे में बनायी गयी इन नकारात्मक रूढ़िबद्ध धारणाओं को आत्मसात कर लेते हैं। इसका परिणाम निष्क्रियता, निर्भरता, एकाकीपन, निम्न स्तर का आत्मसम्मान तथा पहल करने की प्रवृत्ति का समाप्त हो जाना होता है। दिव्यांग व्यक्तियों के प्रबन्धन में दया, अलगाव, भेदभाव तथा लांछन लगाना जैसी बातें मानक के रूप में आम हो जाती हैं।

भारत में दिव्यांगजनों के प्रति लोगों का जो नज़रिया या भाव है, वह मुख्यतः दया का भाव है। यह सेवाभाव तथा कल्याण पर आधारित सामाजिक नीतियों में दिखायी देता है। सहायक सामग्रियों तथा उपकरणों, जैसे पट्टियों, बैसाखियों, श्रवण यन्त्रों आदि समेत चिकित्सकीय पुनर्वास, विशिष्ट विद्यालय, लघु–स्तरीय व्यवसायों में व्यावसायिक प्रशिक्षण तथा आश्रयपरक रोजगार जैसी चीजें उपनिवेशवादी दौर से ही सरकारी नीतियों के महत्वपूर्ण स्तम्भों के रूप में मौजूद रही हैं। इसके अतिरिक्त, दिव्यांगजनों को राजनीतिक रूप से महत्वपूर्ण समूह के रूप में कभी समझा ही नहीं गया। इसलिए राजनीतिक वर्ग ने उनके मुद्दों व सरोकारों को गम्भीरतापूर्वक नहीं लिया। दिव्यांगजनों में से बहुत से लोग चूँकि जनता के सामने आ ही नहीं पाते और उनकी शिक्षा तथा सामाजिक अनुभवों तक पहुँच ही नहीं हो पाती, इसलिए दिव्यांगजन विशाल संख्या में एक साथ आकर लोक जीवन में अपनी उपस्थिति दर्ज करवाने में सक्षम नहीं रहे हैं।

जब दिव्यांगता के मुद्दे को राष्ट्रीय स्तर पर उठाया गया, तो सन् 1981 (अन्तर्राष्ट्रीय दिव्यांग वर्ष) के बाद स्थितियों में थोड़ा बदलाव आना शुरू हुआ। मानवाधिकारों तथा हाशिये के समूहों के सशक्तीकरण पर ध्यान केन्द्रित करने के लिए जब अन्तर्राष्ट्रीय परिवेश परिवर्तित हुआ, तब सरकार को भी नीतियों में कुछ परिवर्तन लाना पड़ा; जैसे – शिक्षण संस्थाओं और रोजगार में आरक्षण। किन्तु अवसरों की समानता और सामाजिक न्याय के वायदे को पूरा करने के लिए वास्तविक प्रगति 1995 में ही सामने आ सकी, जब कानून के स्तर पर दिव्यांग व्यक्ति (समान अवसर तथा पूर्ण भागीदारी) अधिनियम, 1995 बना। इसके बाद कुछ और कानून भी बनाए गए। हालिया समय में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर जो ऐतिहासिक नीतिगत दस्तावेज बने, उनमें से एक था दिव्यांगों के अधिकार हेतु संयुक्त राष्ट्र अधिवेशन (2006)।

इस पर भारत ने भी वर्ष 2007 में हस्ताक्षर किए। इसने दिव्यांगता को सिर्फ सेवाभाव या स्वास्थ्य कल्याण के रूप में देखने की बजाय मानवाधिकार एवं विकास के रूप में देखना प्रारम्भ किया। 1995 के अधिनियम को प्रतिस्थापित करने वाला दिव्यांग अधिकार अधिनियम (2016) इसी विचार का अनुसरण करता है। हालिया समय में अनेक दिव्यांगता अधिकार समूहों और गैर–सरकारी संगठनों का उदय हुआ है तथा शिक्षण संस्थाओं के पाठ्यक्रमों में भी दिव्यांगता से जुडे मुद्दों को शामिल किए जाने के कार्य में बढोतरी हुई है।

मानवाधिकार एवं दिव्यांगता

यूनानी दार्शनिक अरस्तू का महत्त्वपूर्ण कथन है कि ''राज्य मानव जीवन की रक्षा के लिए स्थापित हुआ है और वह उत्तम जीवन की प्राप्ति के लिए स्थिर रहता है।''[4] अर्थात राज्य मनुष्य के अच्छे जीवन की व्यवस्था करता है। ऐसी अच्छी व्यवस्था राज्य तब कर पाता है, जब वह लोगों के लिए उन तमाम बाह्य परिस्थितियों का निर्माण करता है जो उनके व्यक्तित्व के विकास के लिए नितान्त आवश्यक है। इस तरह अधिकार मानव जीवन की वह अनिवार्य परिस्थिति है, जो लोगों के स्वविकास के लिए आवष्यक है। यह व्यक्ति की वह माँग है जिसे राज्य निर्मित करता है और समाज उसे मान्यता देता है। अधिकार के पीछे समाज की शक्ति होती है। अधिकार कोई स्वार्थपूर्ण दावा नहीं है। इस तरह अधिकार वास्तव में, वे दावे होते हैं जिनके बिना कोई व्यक्ति अपने अस्तित्व के उद्देश्य को प्राप्त नहीं कर सकता। विष्व के अनेक देष कई वर्षों तक परतंत्रता का षिकार रहे, वहीं कुछ देष ऐसे भी थे जहाँ वहीं के शासकों ने ऐसी व्यवस्था बना रखी थी जिसमें वहाँ के नागरिकों के मानवाधिकारों का दमन हो रहा था। ऐसे में वहाँ संघर्ष का होना स्वाभाविक था। संघर्ष के परिणामस्वरूप लोगों ने स्वतंत्रता पायी तो उनमें से अधिकांष देषों ने अपने यहां संविधान का निर्माण किया और मनुष्य के सर्वांगीण विकास हेतु मूलभूत अधिकारों की महत्ता एवं आवष्यकता समझते हुए उसे संविधान में जगह दी।

भारतीय संविधान में मानवाधिकार

भारतीय संविधन ने मानवाधिकारों के महत्व को पहचाना है तथा तृतीय अध्याय में कुछ मौलिक अधिकारों की गारंटी भी दी है। "ये हैंः समानता का अधिकार, स्वतंत्रता का अधिकार, शोषण के विरूद्ध अधिकार, धर्मिक स्वतंत्राता का अधिकार, सांस्कृतिक एवं शैक्षिक अधिकार तथा संवैधानिक उपचारों का अधिकार। अनुच्छेद 32 सांवैधनिक उपचारों से संबद्ध है।"[5] जिसके अनुसार भारत का सर्वोच्च न्यायालय इन मौलिक अधिकारों को लागू करवाने का प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार रखता है। यह किसी भी व्यक्ति के मानव अधिकारों के हनन के विरूद्ध सुरक्षा का अधिकार है।

इनमें राज्य द्वारा लोगों के कल्याण में वृद्धि हेतु सामाजिक व्यवस्था, सामाजिक न्याय, काम का अधिकार, शिक्षा का अधिकार और सामाजिक सुरक्षा प्रदान करने का कर्तव्य सम्मिलित है तथा काम करने की न्यायोचित एवं मानवीय स्थितियों का प्रावधान, कमजोर वर्गों के हितों को प्रोत्साहित करना, पोषण एवं जीवन स्तर को उठाना तथा जन स्वास्थ्य में सुधार करना, पर्यावरण पारिस्थितिकी तथा वन्य जीव इत्यादि की रक्षा एवं सुधार करने के कर्तव्य सम्मिलित हैं।

इसके साथ ही प्रत्येक नागरिक के मौलिक कर्तव्यों को संविधान के भाग चार में अनुच्छेद 51में दर्ज किया गया है जो मौलिक अधिकारों की गारंटी को और अध्कि मजबूत करते हैं। मौलिक अधिकारों को लागू करने की शक्ति प्रदान करने वाले अनुच्छेद 32 के साथ उच्च न्यायालयों को ऐसी ही शक्ति अनुच्छेद 226 के अंतर्गत प्रदान की गई है। उच्चतर न्यायपालिका द्वारा मानवाधिकारों का संरक्षण एवं उन्हें लागू करने का काम एक संवैधानिक आदेश है। कानून का शासन हमारे संविधान की आधारभूत विशेषता है और इसी प्रकार न्यायिक समीक्षा भी आधारभूत विशेषता है।

मानवाधिकारों के प्रसार में उच्चतम न्यायालय की भूमिका प्रशंसनीय है तथा अनुच्छेद 21 इसके लिए एक फलदायी अनुच्छेद है। कई मामलों में भारत के सर्वोच्च न्यायलय ने कहा है कि विभिन्न अनुच्छेदों के अंतर्गत दिए गए अधिकारों जैसे मानवीय गरिमा का अधिकार, स्वस्थ पर्यावरण का अधिकार, सामाजिक सुरक्षा का अधिकार, बचपन की रक्षा का अधिकार इत्यादि के उल्लंघन पर क्षतिपूर्ति देना होगा। 1948 के मानवाधिकारों के सार्वभौमिक घोषणा पत्र का प्रभाव भारतीय संविधान के भाग चार और पांच के प्रारूप में निरन्तर अनुभव किया गया। भारत ने मानवाधिकारों के सार्वभौमिक घोषणापत्र तथा अन्य दोनों प्रसंविदाओं को कुछ फेर बदल के साथ स्वीकार किया।

राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग

1993 में मानवाधिकार संरक्षण अधिनियम लागू किया गया जिसमें मानव अधिकारों तथा उससे जुड़े मामलों की बेहतर रक्षा के लिए राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग तथा राज्य मानवाधिकार आयोग के गठन का प्रावधान था। "मानवाधिकारों के अधिनियम की धारा 2;1में परिभाषित किया गया है जिसका अर्थ है कि जीवन, स्वतंत्राता और व्यक्ति की गरिमा से जुड़े सभी अधिकार मानवाधिकार हैं जिनकी सुरक्षा की गारंटी संविधान देता है अथवा ये अधिकार अंतर्राष्ट्रीय प्रसंविदाओं में दर्ज हैं और भारत में न्यायालयों द्वारा लागू करने योग्य हैं। आयोग के कार्यों की गणना अनुच्छेद 12 में की गई है जिसमें आयोग को एक व्यापक क्षेत्र बताया गया है जिसमें न केवल मानवाधिकारों के उल्लंघन अथवा लापरवाही के मामलों की पूछताछ और जांच करना ही सम्मिलित है अपितु मानवाधिकार संस्कृति को बनाये रखना।"[6]

1993 में अपने गठन के साथ ही राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग सर्वोच्च न्यायालय की पूरक संस्था के रूप में अपना कार्य कर रहा है तथा किसी स्थिति अथवा किसी संस्थान के क्रिया–कलापों पर नज़र रखने का काम अपने स्वभावगत तरीके से करता है। सर्वोच्च न्यायालय द्वारा मौलिक अधिकारो–विशेष रूप से अनुच्छेद 14 अंतर्गत समानता का अधिकार तथा अनुच्छेद 21 के अंतर्गत जीवन का अधिकार की व्याख्या से भारत में मानवाधिकारों के अर्थ एवं क्षेत्र को विस्तार मिला है। राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग ने अनुच्छेद 12 में दर्ज अपने कार्यों, विशेष रूप से शासन चलाने वाली संस्थाओं की कार्यप्रणाली की जांच करने से संबंधित अपनी शक्ति की मानवाधिकारी की सुरक्षा तथा उनके उल्लंघन को रोकने को सुनिश्चित करने के लिए व्याख्या भी की है। राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग शासन की गुणवत्ता को सुधारने हेतु अपनी भूमिका को इस मानवाधिकारों के संरक्षण में राज्य के दायित्व की प्रवृति एवं क्षेत्र के विषय में राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग प्रमुख समकालीन मुद्दे पर कार्रवाई करते हुए इसे सुनिष्चित करने का प्रयास किया है।

देश का संविधान सभी नागरिकों को व्यक्तिगत व सामूहिक स्वरूप में भौतिक अधिकार प्रदान करता है जिनको संविधान के भाग तीन के अनुच्छेद 12 से 35 तक वर्णित किया गया है। "इनमें समानता का अधिकार कानून, धर्म, वर्ण, जाति, लिंग या जन्म स्थान जन्मस्थान के भेदभाव की दृष्टि से निषेधात्मक या भेदभाव पूर्व स्थिति लागू करने को वर्णित करता है। स्वतंत्रता का अधिकार बोलने, विचार व्यक्त करने, संगठित होने, संघ बनाने, प्रवास करने, निवास करने, कोई व्यवसाय करने के बारे में लागू किए जाते हैं। शोषण के विरूद्ध अधिकार बलपूर्वक श्रम लेने, बाल मजदूर, मानव तस्करी इत्यादि को निषेध करता है। धर्म स्वतंत्रता का अधिकार किसी धर्म को मानने, उसका प्रचार करने, विश्वास स्थापित करने की स्वतंत्रता प्रदान करता है। नागरिकों को अपनी संस्कृति संरक्षित रखने, भाषायी अल्पसंख्यकों को उनकी भाषा की षिक्षण संस्थायें स्थापित करने व संचालित करने की स्वतंत्रता प्रदान करता है।"[7]

भारतीय संविधान में प्रदत्त मौलिक अधिकारों में धर्म की स्वतंत्रता अंतर्भुक्त है। ये अधिकार भारतीय न्यायालयों द्वारा प्रवर्तनीय हैं। भारतीय न्यायालयों द्वारा मानवाधिकारों की सक्रीय रूप से रक्षा करने की बात भी स्वीकार की गयी है। इस प्रकार अनेकों न्यायिक दृष्टान्त भी जीवन की स्वतंत्रता, समता, गरिमापूर्ण जीवन जीने के अधिकार आदि मौलिक अधिकारों एवं मानव अधिकारों के प्रतिबिंबित उदाहरण हैं। वास्तव में मानवीय जीवन और अधिकारों की रक्षा किसी देश के मानवाधिकार कानूनों के लिए गौरवान्वित करने वाली बात है। वर्तमान में हमारे देश में मानवाधिकारों की स्थिति वास्तव में जटिलता में देखी जा रही है। मानवाधिकारों की सबसे बड़ी समस्या यह है कि इसका हनन राजनैतिक कारणों के अतिरिक्त धार्मिक मुद्दों पर भी किया जा रहा है। प्रत्येक जाति वर्ग को पारस्परिक सहिष्णुता की भावना के साथ प्रेम और स्नेह के मार्ग पर चलने का सन्देश देने के नाम पर कट्टरता का प्रचार करते हुए हिंसा का बढ़ावा दिया जा रह है। भले ही मानवाधिकारों का चिंतन करने के नाम पर आतंकवाद और नक्सलवाद इसके सबसे बड़े शत्रु दिखाई पड़ते हैं किन्तु वास्तव में इसका दूसरा पक्ष अशिक्षा के रूप में भी समाज के समक्ष परिलक्षित होता है। यही कारण है की आम लोग शिक्षा का अभाव होने से मानवाधिकारों के हनन किये जाने पर उसका विरोध भी नहीं कर पाते हैं।भारत के विशाल आकार और विविधता, संप्रभुता संपन्न, धर्म निरपेक्ष, लोकतांत्रिक गणतन्त्र के रूप में इसकी प्रतिष्ठा तथा भूतपूर्व औपनिवेशिक राष्ट्र के रूप में इसके इतिहास के परिणामस्वरूप इसकी

स्थिति जटिल हो गयी है। यद्दपि भारत में दक्षिण एशिया के अन्य देशों की भांति आमतौर पर मानवाधिकारों को लेकर चिंता का विषय नहीं माना जाता है।

समाज और संस्कृति

विकासात्मक देरी वाले लोगों के प्रति इतिहास दयालु नहीं रहा है। पूरे इतिहास में विकासात्मक देरी वाले लोगों को निर्णय लेने और विकास के लिए उनकी क्षमता को अयोग्य और अक्षम करार किया जाता रहा है। यूरोप में आत्मज्ञान के प्रसार तक देखभाल और आश्रय परिवारों व चर्च (धार्मिक मठों और अन्य धार्मिक समुदायों में) द्वारा प्रदान किया गया था, जिनमें भोजन, घर व कपड़े जैसी बुनियादी आवश्यकताओं के प्रावधानों पर ही ध्यान केंद्रित किया जाता था। रुढिबद्ध धारणा के मुताबिक कम बुद्धिवाला गंवार और संभावित रूप से नुकसानदेह प्रकृति वाले लोग (मिरगी रोग से ग्रस्त राक्षसी प्रकृति वाले) एक समय सामाजिक व्यवहार में प्रमुख थे। पुनर्जागरण के दौरान समुदायों के लोग नावों पर उन्ही लोगों को भेजते थे, जो विकासात्मक देरी से प्रभावित थे। वे इन्हें मूर्खों के जहाज कहते थे और वे दूसरे बंदरगाह दिखा देते थे, ताकि ये किसी दूसरे समुदाय में चले जायें।

"बीसवीं सदी के शुरू में युजनिक्स (आबादी को नियंत्रित करने वाले) आंदोलन पूरी दुनिया में लोकप्रिय बन गया। इसकी वजह से ज्यादातर विकसित देशों में बलात् नसबंदी और शादी के निषेध के लिए मजबूर करने की प्रवृत्ति दिखी और बाद में हिटलर ने यहूदियों के नरसंहार के दौरान मानसिक रूप से विकलांग लोगों की सामूहिक हत्या को तार्किक बताया. युजनिक्स आंदोलन बाद में गंभीरता रूप से त्रुटिपूर्ण हो गया और मानवाधिकारों का उल्लंघन होने लगा."[8] इस तरह 20 वीं सदी के मध्य तक जबरन नसबंदी और शादी से निषेध का अभ्यास ज्यादातर विकसित दुनिया में बंद हो गया।

18 वीं और 19 वीं शताब्दियों में व्यक्तिवाद के आंदोलन और औद्योगिक क्रांति से पैदा हुए अवसरों के चलते मानसिक चिकित्सालयों के मॉडल पर आवास और देखभाल करने की प्रवृत्ति दिखी. लोगों को उनके परिवारों से हटाकर (आम तौर पर बचपन में) बड़े संस्थानों में रखा जाने लगा, (3000 लोगों तक, कुछ संस्थानों में इससे भी ज्यादा लोगों को रखा गया, जैसे 1960 के दशक में पेंसिल्वेनिया राज्य के फिलाडेल्फिया सरकारी अस्पताल में 7,000 लोगों को रखा गया।) जिनमें से कई उसमें रहने वालों के श्रम की बदौलत आत्मनिर्भर थे। इनमें से कुछ संस्थानों में बहुत बुनियादी स्तर की शिक्षा (जैसे रंगों में अंतर, अक्षरों और अंकों की पहचान) दी जाती थी, लेकिन ज्यादातर का ध्यान केवल बुनियादी जरूरतों के प्रावधान पर ही केंद्रित रहा. इन संस्थानों की हालत काफी विविधता लिए हुए रही, लेकिन जो सहायता प्रदान की जाती थी, वह गैर–व्यक्तिवादी व विपथगामी व्यवहार लिए हुए थी और आर्थिक उत्पादकता के निम्न स्तर के कारण इन्हें समाज के लिए एक बोझ के रूप में माना गया। मादक दवाओं के अत्यधिक प्रयोग और सहायता की सामूहिक पद्धतियां (जैसे चिड़ियों को दाना चुगाना या पशुओं को चराना) अपनाई गईं और विकलांगता का चिकित्सकीय मॉडल बरकरार रहा. सेवाएं प्रदाता की सुविधा के हिसाब से प्रदान की जाती थीं, न कि व्यक्ति की मानवीय जरूरतों पर आधारित थीं।

प्रचलित दृष्टिकोण की अनदेखी करते हुए 1952 में नागरिकों ने विकासात्मक विकलांगों की सेवा को बड़े संगठनात्मक रूप से प्रमुखता देने का सिलसिला शुरू किया। उनके प्रारंभिक प्रयासों में विशेष शिक्षा प्रदान करने वाले शिक्षकों के लिए कार्यशालाएं आयोजित करना और विकलांग बच्चों के लिए दिवस शिविर आयोजित करना शामिल था, यह सब उस समय हुआ, जब इस तरह के प्रशिक्षण कार्यशालाओं और कार्यक्रमों का अस्तित्व नहीं था। विकासात्मक विकलांग लोगों के अलगाव पर शिक्षाविदों और नीति निर्माताओं ने तब तक व्यापक रूप से सवाल नहीं उठाया, जब तक 1969 में वोल्फ वोल्फेंसबर्गर के बीजगर्भित कार्य ''द ऑरिजिन एंड नेचर ऑफ आवर इंस्टीच्यूटनल मॉडेल्स'', का प्रकाशन हुआ। इसमें कुछ ऐसे विचारों को लिया गया, जिन्हें 100 साल पहले एसजी होव ने प्रस्तावित किया था। इस पुस्तक में कहा गया है कि "विकलांग लोगों को समाज बेकार, उप मानव और दान के बोझ के रूप में मानता है और इसका परिणाम यह होता है कि लोग इन्हें ''विसामान्य'' भूमिका में पाते हैं।"[9] वोल्फेंसबर्गर ने तर्क दिया कि इस अमानवीकरण और इससे पैदा हुए अलग संस्थाओं ने उन संभावित उत्पादक योगदानों की उपेक्षा की जो ये लोग समाज को दे सकते हैं। उन्होंने नीति और व्यवहार में बदलाव पर जोर दिया, ताकि ''विकलांगों'' की मानवीय जरूरतों को मान्यता प्राप्त हो सके और बाकी जनसंख्या जितने ही बुनियादी मानव अधिकार प्रदान किये जा सकें।

इस पुस्तक के प्रकाशन को विकलांगता के इन प्रकारों के संबंध में विकलांगता के सामाजिक मॉडल को व्यापक रूप से ग्रहण करने के प्रति पहला कदम माना जा सकता है और अलगाव की सरकारी रणनीतियों के लिए यह प्रेरक तत्व रहा. सरकार के खिलाफ सफल मुकदमों और मानवाधिकारों तथा आत्म–वकालत के प्रति बढ़ती जागरूकता ने भी इस प्रक्रिया में योगदान किया है, जिनकी वजह से 1980 में अमेरिका में "सिविल राइट्स ऑफ इंस्टीच्यूटशनाइज्ड पर्सन्स एक्ट"[10] को पारित किया जा सका। 1960 के दशक से अब तक ज्यादातर राज्यों ने अलग संस्थाओं के उन्मूलन की दिशा में कदम उठाया है। वोल्फेंसबर्गर और गुन्नूर व रोजमेरी डाइबाड, सहित अन्य लोगों के कार्यों से सरकारी संस्थानों के डरावने हालातों के घोटालानुमा खुलासों ने जनाक्रोश पैदा किया, जिससे सेवाएं प्रदान करने में और ज्यादा सामुदायिक पद्धति की ओर बदलाव का रुख हुआ। 1970 के दशक के मध्य तक, ज्यादातर सरकारें अ–संस्थानीकरण करने के लिए प्रतिबद्ध दिखीं और सामान्यीकरण के सिद्धांतों की तरह आम समुदाय में लोगों के घुमने–फिरने की छूट देने की तैयारी शुरू की। ज्यादातर देशों में 1990 के दशक के आखिर तक यह काम अनिवार्य रूप से पूरा कर लिया गया, हालांकि इस बात पर बहस होती रही कि मैसाचुसेट्स सहित कुछ राज्यों मे मौजूद संस्थानों को बंद किया जायें या नहीं।

यह तर्क दिया जा सकता है कि हमें अभी भी इस तरह के विकलांग लोगों को समाज के पूर्ण नागरिक के रूप में देखने के लिए बहुत लंबा रास्ता तय करना है। व्यक्ति केन्द्रित योजना और व्यक्ति केन्द्रित दृष्टिकोण के विकास को उन पद्धतियों के रूप में देखा जाता है, जिनमें सामाजिक अवमूल्यन वाले लोगों को ठप्पा लगाने और उन्हें अलग–थलग रखने का काम जारी रहता है, जैसे विकासात्मक विकलांगता के ठप्पे वाले व्यक्ति को एक ऐसे व्यक्ति पर ध्यान केंद्रित करने को प्रोत्साहित किया जाता है, जिसके पास आवश्यक जरूरत को पूरा करने की क्षमता और कुछ देने की योग्यता है।

संयुक्त राष्ट्र समझौता पूरे विश्व भर में, दिव्यांग लोगों को मानवाधिकारों पर वही पहुँच प्राप्त नहीं है जो अन्य लोगों को है। संयुक्त राष्ट्र का यह समझौता एक विश्वव्यापी स्तर पर दिव्यांगजन को समान मानवाधिकार प्रदान करने हेतु समझौता है। यह दिव्यांग लोगों के मानवाधिकारों को स्पष्ट करता है। यह समझौता दिव्यांग लोगों को नए मानवाधिकार नहीं देता है। यह इस बात को स्पष्ट करता है, कि उनके अधिकार भी वही हैं, जो हर किसी के हैं। यह सरकारों को बताता है कि बाधाओं को किस प्रकार दूर किया जाना चाहिए और किस प्रकार यह सुनिश्चित करना चाहिए कि दिव्यांग लोगों को उनके अधिकारों तक पहुँच प्राप्त हो। "संयुक्त राष्ट्र की महासभा ने दिसम्बर 2006 में दिव्यांगजन हेतु समझौते को अपनाया था।"[11]इसका उद्देश्य सभी दिव्यांग लोगों के लिए समान मानवाधिकारों और स्वतंत्रता को बढाता है।

निष्कर्ष

भारत में दिव्यांगों को सवैधानिक रुप से विषेश अधिकार प्रदत्त है। जिसके तहत भारत सरकार ने 'दिव्यांगजन के समग्र कल्याण हेतु भारत सरकार द्वारा निशक्त व्यक्ति अधिकार अधिनियम 2016 पारित किया गया है, जो कि पुर्व विकलांगता अधिनियम 1995 की जगह नये अधिकारों एवं प्रावधानों के साथ पारित किया गया। जो कि दिनांक 14 दिसम्बर, 2016 को राज्य सभा द्वारा में पारित होने हुआ। इस अधिनियम में कुल 17 अध्याय एवं 102 धारा हैं। समान अवसर देने, उनके अधिकारों के संरक्षण और सहभागिता के लिये, जो व्यक्ति 40 फीसदी या उससे अधिक दिव्यांग है, उसे चिकित्सा विशेषज्ञों द्वारा प्रमाणित किया जायेगा। इसमें दृष्टि हीनता, दृष्टिबाध्यता, श्रवण क्षमता में कमी, गति विषयन बाध्यता, बौनापन, सेरेबल पल्सी, मस्तिश्क विमंदता, तेजाब हमला सहित 21 निःशक्ताओं को शामिल किया गया है।

- दिव्यांग व्यक्तियों को अविकलांग व्यक्तियों की तरह समान अवसर का अधिकार और कानूनी अधिकारों की सुरक्षा का अधिकार है ।
- जीवन के कार्यों में अविकलांग व्यक्तियों के बराबर पूर्ण भागीदारी का अधिकार है ।
- दिव्यांग को देखभाल और जीवन की प्रमुख धारा में उन्हें पुनर्वासित किए जाने का अधिकार है।

संदर्भ सूची

1. अडलखा रेणू, 2013, डिसैबिलिटी स्टडीज इन इंडिया, रूटलेज प्रकाषन, नई दिल्ली पृ0 109।
2. बैकूवर ए एण्ड शर्मा ए, 1997, डिसैबिलिटीःचैलेजेज वर्सेज रिसपोंस, कन्सर्नंड एक्शन नाउ, नई दिल्ली पृ0 28।
3. चिब मालिनी, 2012, वन लिटिल फिंगर, सेज प्रकाशन नई दिल्ली पृ0 118।
4. अरस्तू उद्धत बेगम नाशा, 1992, डिसेबल्ड वीमेन एण्ड द फेमिनिस्ट एजेंडा, फमिनिस्ट रिव्यू नं 40 एडिसन 1 पृ0 70–84।
5. कश्यप, सुभाष, 2017, भारत का संविधान एनबीटी प्रकाशन नई दिल्ली पृ0 45।
6. कानन पी. सत्य, 2005,मानव अधिकार और सामाजिक न्याय का विश्वकोश'' खण्ड–4,दिल्ली प्रकाशन पृ0 201।
7. चौपड़ाजे0 के0 2010, भारत में मानवाधिकारों का उल्लंघन, एनबीटी प्रकाशन नई दिल्ली पृ0 38।
8. कुमारकृष्ण, 1993, प्राचीन भारत का सांस्कृतिक इतिहास, सरस्वती सदन, नई दिल्ली पृ0 49।
9. बोल्फेंस बर्गर उद्धत कृपलानी, श्यामा, 2005 वूमेनः कॉनफिलैक्ट फॉर वेसिक राइट्स, आर.बी. , एस0 ए0 पब्लिशर्स, जयपूर पृ0 76।
10. सिविल राइटस ऑफ इंस्टिच्यूसनलाइज्ड पर्सस एक्ट 1980 उद्धत फाइन एम एण्ड ए0 एस, 1988, वीमेन वीथ डिसैबिलिटीजः एसेज इन साइकोलॉजी कल्चर एण्ड पॉलिटिक्स, टेम्पल यूनिवर्सिटी प्रेस, फिलाडेल्फिया पृ0 68।
11. मिश्रा मतेन्द्र कुमार,2008,भारत में मानव अधिकार आर0 बी0 एस0 ए0 पब्लिशर्स, जयपुर पृ0 187।

ACADEMIC ANXIETY AND LIFE SKILLS OF SECONDARY SCHOOL CHILDREN

Dr. Rekha Singh
Associate Professor
Education – Faculty
M.M.P.G. College, Kalakankar
Pratapgarh, Uttar Pradesh

Introduction

The prevailing education system has fuelled Academic Anxiety among the budding schoolchildren. This has led to many personality disorders among them. They are not able to meet the real challenges of the world that are beyond their academic life. Such students sorely lack the Life Skills that are essential for even day-to-day existence. This study aimed to assess the relationship between Life Skills and Academic Anxiety of secondary school students. The findings revealed that there was no significant difference in Academic Anxiety of boys and girls, and of government and private school students. Also, there was no significant difference in Life Skills of boys and girls; but there was significant difference in Life Skills of private and government secondary school students. It was found that students from private schools had better Life Skills than government school students. The study also revealed significant highly negative relationship between Life Skills and Academic Anxiety.

Education is the only means to empower children and adults alike to become active participants in the transformation of the society. It helps in the enrichment and progress of society by equipping children with spiritual, moral and material knowledge. But in this age of cutthroat competition, there is so much emphasis on preparing school children to be competitive in the academic world. The children are pressurized by school as well as family to excel in the academics. The pressure leads to Academic Anxiety. This is the reason that more and more children seem to be succumbing to anxiety disorders.

Academic Anxiety

Anxiety is our body's way of telling us that there is something in the environment in need of out attention. It is basically a series of biochemical changes in our brain and body, such as an increase in adrenaline (causing our heart to beat faster) and a decrease in dopamine (a brain chemical that helps to block pain). Generally, anxiety can be either a trait anxiety or a state anxiety. A trait anxiety is a stable characteristic or the trait of a person. A state anxiety is one which is aroused by some temporary condition of the environment such as examination, accident, punishment, etc.

Academic Anxiety is a normal response to the pressures of school. It is a kind of state anxiety which relates to the impending danger from the environment of the academic

institutions including teachers, certain subjects like mathematics, English, etc. It can help motivate students to study for tests or complete assignments. Sometimes, however, the anxiety can reach levels that hinder academic performance instead of improving it. Some students procrastinate while others cannot concentrate on studies. Academic Anxiety can adversely affect performance on tests as well.

Mild or even moderate amount of Academic Anxiety is not bad. It rather motivates to do better. But the prevailing education system has fuelled severe anxiety among the budding school children. The severe amount has adverse effects on the performance. In a study entitled "Test Anxiety and Academic Performance; The Effects of Study-Related Behaviours" Culler, Ralph E and Holahan, Charles J., (1980) demonstrated that highly anxious students were found to have poorer study skills. Other theories of Academic Anxiety explain the performance deficit associated with Academic Anxiety as an interfering effect of Academic Anxiety on the retrieval of relevant task-related information (Wine, 1982). Moreover, the health is also affected. They cannot concentrate in spite of long hours of sitting. Their memory power declines. It was found that highly anxious people have less available working memory capacity for task solution that their low-anxious counterparts (Darke, 1988).

Such children with high Academic Anxiety grow up into adults with poor coping skills. This is the basic reason why today's youth fail to cope with the many challenges and pressures that they face. In spite of having best numeric and literacy skills with excellent academic record, the students we churn out from the portals of educational institutes sorely lack the Life Skills that one needs to have for day-to-day existence.

Life Skills

Life Skills are defined as those abilities, attitudes, knowledge and behaiours that must be learned for success in society. Life Skills from a psychological standpoint are those mental and emotional skills which enable us to better cope and succeed in our lives.

The World Health Organization has defined Life Skills as, "the abilities for adaptive and positive behaviour that enable individuals to deal effectively with the demands and challenges of everyday life". UNICEF defines Life Skills as "a behaviour change or behaviour development approach designed to address a balance of three areas; knowledge, attitude and skills". The UNICEF definition is based on research evidence that suggests that shifts in risk behaviour are unlikely if knowledge, attitudinal and skills-based competency are not addressed.

Life Skills are essentially those abilities that help promote mental wellbeing and competence in young people as they face the realities of life (Aishath Nasheeda, 2005). Life Skills enable us to learn and use knowledge to develop reasoning and analytical strengths, to manage emotions and to live with relate to others (Anna Maria Hoffmann, 2006). With Life Skills, one is able to explore alternatives, weigh pros and cons and make

rational decisions in solving each problem or issue as it arises. It also entails being able to establish productive interpersonal relationships with others.

Life Skills are the perfect companions for the students to make positive differences in their lives. Life Skills education promotes mental wellbeing in young people and equips them to face the realities of life. By supporting mental wellbeing and behavioral preparedness, Life Skills education equips individuals to behave in pro-social ways and it is additionally health giving (Birell Weisen and Orley, 1996). Life Skills education acts as a bridge to human capabilities (Parul Bakshi, 2008).

Increasingly, educators and policy makers are also discovering the importance of Life Skills variables for academic performance and achievement. Consequently, they are turning their attention to methods and practices that foster student's social and emotional development through Life Skills. These Life Skills can definitely help bringing improvement in the educational system by equipping students with essential skills for life. The students can easily cope with situations of frustration, pressure and anxiety. In fact, they can be self-motivated to move for excellence.

Keeping this in view, the following four Life Skills closely related to academics were selected for the present study-

Sociability, Self-esteem, Ambition and Responsibility

Sociability describes a child's social effectiveness -a child's ability to establish and maintain high quality and mutually satisfying relationships and to avoid negative treatment or victimization from others. It may be defined as the ability to achieve personal goals in social interaction while simultaneously maintaining positive relationships with others over time and across situations (Rubin and Rose–Krasnor, 1992). The extent to which children and adolescents possess good social skills and influence their academic performance, behaviour, social and family relationships, and involvement in extracurricular activities. Social skills are also linked to the quality of the school environment and school safety. Social competencies ensure success in school and in later life. It is the ability to behave in accordance with social expectations (Hurlock, 1978). Social competence is often a powerful predictor of academic achievement. Children who are accepted by their peers tend to be high achievers, where as socially rejected and aggressive children appear to be especially at risk for academic failure (Dishion, 1990). In a study on medical students, psychosocial measures were considered as significant and unique predictors of performance in medical school. The students with good social behavior were good rank holders (Hojat, M; Robeson, 1993).

Self-esteem refers to an individual's perception of his own self-worth, his feelings of self-respect and self-confidence and the extent to which the individual holds positive or negative views about himself (Brockner, 1986). Self-esteem empowers a child to handle the confilicts it faces in a positive way and it helps it to say 'no' to negative pressure. Kids with healthy self-esteem are happier, they laugh, smile and joke around and tend to be

more optimistic. They do academically better also. Researches have documented the important role high self-esteem plays in academic achievement, social and personal responsibility (Redenbach, 1991). For people of all ages, the development of full human potential is enhanced through high self-esteem. Self-esteem is the one key ingredient that affects the level of proficiency in all fields of endeavor. Self-esteem has been correlated to job success, school achievement, interpersonal compatibility, and general happiness (Redenbach, 1991). Some researchers investigated the relationship between self-esteem and academic achievement and found that high self-esteem facilitates academic achievement. Several recent studies have attempted to investigate the direct relationship between self-esteem and academic achievement. According to the studies (Pullmann & Allik, 2008) low general self-esteem is the signal to poor academic achievement. Another study showed in general that cognitive potentiality, faith in one's own abilities, and a positive attitude towards oneself and towards others are variables which go together (H. Sam Sananda Raj & Immanuel Thomas, 1986).

Ambition means the strong desire for success, achievement or distinction. In simple words, it means having goals. Hollenbeck and Klein (1987) found that goals perceived as difficult and challenging, yet still attainable, helped lead to higher performance more often than goals that were easy to achieve. Latham and Locke (1991) agreed when they noted that given adequate ability and commitment to the goal, the harder the goal the higher was the performance. Several researches also indicated that students who selected their own aim experienced beneficial outcomes (Zimmerman, 1989). An ambitious child is self-motivated to do academically better without any kind of anxiety and pressure. The nature of ambition varies from man to man. The present study incorporated ambition of the students regarding their academics. Moreover, the various researches into the variables that facilitate achievement had increasingly focused on students' ambitious nature. Setting an aim for achievement acts as motivation that highly influences students' performance (Ames, Carole, 1992).

Responsibility means the duty or obligation to satisfactorily perform or complete a task (assigned by someone or created by one's own promise or circumstances) that one must fulfill. Having responsibility means to be reliable, dependable or accountable for task or behaviour. Being responsible helps the students achieve their ambitions. It also helps in maintaining social codes as well as personal targets. Since rare studies are available on this account, it is very difficult to see any relationship between responsibilities and performance. A study by Feather, N. T. (1969) revealed a significant positive relationship between responsibility, success and task performance. In another study entitled "Academic Success among Students at Risk for School Failure' (Finn, Jeremy D.; Rock, Donald A., 1997), it was seen that students' own responsibility of doing the tasks is an important component of academic achievement.

Statement of the Problem

Academic Anxiety and Life Skills of secondary school children.

Objectives

The following are the objectives of the study:

- To assess the impact of Gender on Life Skills among secondary school students
- To assess the impact of Private and Government schools on Life Skills among secondary school students
- To assess the impact of Gender on Academic Anxiety among secondary school students
- To assess the impact of Private and Government schools on Academic Anxiety among secondary school students
- To assess the relationship between Life Skills and Academic Anxiety of secondary school students

Hypotheses

Investigator formulated the following hypotheses:

- There is no significant difference in Life Skills of Boys and Girls of secondary schools
- There is no significant difference in Life Skills of Private and Government secondary school students
- There is no significant difference in Academic anxiety of Boys and Girls of secondary schools
- There is no significant difference in Academic Anxiety of Private and Government secondary school students
- There is no significant relationship between Life Skills and Academic Anxiety of secondary school students.

Sample

A sample of 120 students from Standards VIII, IX and X was randomly selected from Pratapgarh district in Uttar Pradesh. It comprised of 60 students from private and 60 students from government schools. In terms of gender, it consisted of 60 boys and 60 girls.

Table – 1 : Sample Distribution

School	Gender	No. of Students
Private	Boys	30
	Girls	30
Government	Boys	30
	Girls	30

–

Research Tools

Two tools had been used for the data collection. These were:

1. Academic Anxiety Scale for children (AASC)
   The scale was developed by Singh and Sen Gupta (1984) to measure the Academic Anxiety of school students of Standards VIII, IX and X. It consists of 20 items related to academic life of a student. The maximum possible score of this test is 20.
2. Peter Shepaherd's Online Questionnaire
   This is an online tool to measure different personality traits. The tool is in the form of a questionnaire available at http://www.trans4mind.com/personality/questionnaire1.htm. The researcher had selected four traits from the tool that are considered as essential Life Skills for the students viz.
   - Sociability
   - Self-esteem
   - Responsibility
   - Ambition

   The number of items in the questionnaire comprising the above mentioned four skills is 123.

Statistical Analysis

Mean, S.D. and 't' test were used to assess the significant differences between Boys and Girls, and Private and Government schools with regard to Life Skills and Academic Anxiety. Correlation technique was used to assess the significant relationship between Life Skills and Academic Anxiety.

Results and Discussion

Table 2 shows that the Mean of boys is 62.98 and that of girls is 66.05. The SDs for the same groups are 12.76 and 14.27 respectively.

Table- 2: Significance of Difference between Boys and Girls in Life Skills

Group	N	Mean	S.D.	t-ratio	Level of Significance
Boys	60	62.98	12.76	1.11	Not significant at 0.01
Girls	60	66.05	14.27		

The t-value was found to be 1.11 and it is not significant at 0.01 level. Hence the null hypothesis is accepted viz, there is no significant difference in Life Skills of Boys and

Girls of secondary schools. However, from the Mean values, it is clear that girls have better Life Skills than boys of secondary schools.

It is evident from **table 3** that the Mean of Private schools is 68.02 and that Government schools is 61.02. The SDs for the same groups are 14.33 and 11.49 respectively.

Table- 3: Significance of Difference between Private & Government Schools in Life Skills

Group	N	Mean	S.D.	t-ratio	Level of Significance
Private	60	68.02	14.33	5.56	Significant at 0.01
Government	60	61.02	11.49		

The t-value was found to be 5.56 and is significant at 0.01 level. Hence the null hypotheses viz. there is no significant difference in Life Skills of students of Private and Government secondary schools is rejected. It is concluded that there is significant difference in Life Skills of students of Private and Government secondary schools. Students from Private schools have better Life Skills than students of Government schools.

Table 4 shows that the Mean of boys is 11.68 and that of girls is 11.95. The SDs for the same groups are 4.49 and 4.67 respectively.

Table- 4: Significance of Difference between Boys and Girls in Academic Anxiety

Group	N	Mean	S.D.	t-ratio	Level of Significance
Boys	60	11.68	4.49	0.57	Not significant at 0.01
Girls	60	11.95	4.67		

The t-value was found to be 0.57 and it is not significant at 0.01 level. Hence the null hypothesis viz. there is no significant difference in Academic Anxiety of Boys and Girls of secondary schools is accepted. However, from the Mean values, it is clear that girls have more Academic Anxiety than boys of secondary schools.

Table 5, it is clear that the Mean of Private schools is 11.77 and that of Government schools is 11.87. The SDs for the same groups are 4.39 and 4.76 respectively.

Table- 5: Significance of Difference between Private & Government Schools in Academic Anxiety

Group	N	Mean	S.D.	t-ratio	Level of Significance
Private	60	11.77	4.39	0.12	Not Significant at 0.01
Government	60	11.87	4.76		

The t-value was found to be 0.12 and is not significant at 0.01 level. Hence the null hypotheses viz. there is no significant difference in Academic Anxiety of students of Private and Government secondary schools is accepted. However, from Mean values, it is concluded that students from Government schools have more Academic Anxiety than students of Private schools.

To find out the relationship between Life Skills and Academic Anxiety, correlation was calculated and found to be highly negative (-0.94). It means that increasing the scores in one variable will reduce the scores in the other. If scores in Life Skills are increased, scores in Academic Anxiety will decline. The calculated value is higher than table value and hence the null hypotheses viz. there is no significant relationship between Life Skills and Academic Anxiety is rejected. It is, therefore, concluded that these two variables are not only highly negatively correlated but also significantly related.

Major Findings of the Study

- **T**here is no significant difference in Life Skills of boys and girls of secondary schools though girls possess slightly better Life Skills than boys.
- There is significant difference in Life Skills of Private and Government secondary school students. Students of Private schools have better Life Skills than students of Government schools.
- There is no significant difference in Academic Anxiety of boys and girls of secondary schools though girls have slightly more Academic Anxiety than boys.
- There is no significant difference in Academic Anxiety of Private and Government secondary school students though Government school students have slightly more Academic Anxiety than students of Private schools.

- There is significant relationship between Life Skills and Academic Anxiety of secondary school students. The results clearly revealed that more the Life Skills, lesser was the Academic Anxiety.

References

1. **Ahuja, M. & Gera M.** (2001). Impact of classroom environment and academic stress on achievement of IX graders. Recent researches in Education and Psychology. Vol.5 (2), 20 – 21.
2. **Asha, C.B. (2003)**. Creativity, intelligence, academic stress and Mental Health. Journal of Community Guidance and Research, Vol.20 (1). 41 – 47.
3. **Best J. W.** (1982). Research and Education. Prentice-Hall of India Pvt. Ltd. New Delhi.
4. **Copeland J.W. (**2006). The relationship between academic achievement and social skills among elementary students. Dissertation Abstract International. 55(6).
5. **Garret, H.E. & Woodworth, R.S.** (1981). Statistics in Psychology and Education. Vakils Feffer and Simons. Bombay.
6. **Kerlinger, F.N.** (1969). Foundation of Behavioural Research. New York: Hort, Rinchart and Winston Inc.
7. **"Life Skills** education for orphans and vulnerable children in India", at: www.geocities.com
8. **Mandler, G. & Sarason, S.B.** (1952). A study of anxiety and learning. Journal of Abnormal and Social Psychology, 47, 166 – 173.
9. **Mannel D.R.** (1982). A study of tension on goal performance, Ph.D. Thesis. Madras University, Chennai.
10. **Mohanty C.** (1985). Effects of state-trait anxiety on classroom learning and personal adjustment of elementary school pupils, Ph.D. Thesis, Utkal University. Orissa.
11. **Moore, Kristin, A. & Lipman Laura** (2004). What do children need to flourish? Conceptualizing and measuring indicators of positive development.
12. **Padmasri, J.V.** (1992). Stressful life events in school systems and educational development in children. M.Phill., Home Science, Sri Venkateswara University in Buch, M.B. (1990-1992). Fifth Survey of Educational Research Vol-I. New Delhi: NCERT.
13. **Rooth, E.** (1997). "Introduction to Life Skills : Hands on approaches to Life Skills education". At : www.unicef.org/lifeskills
14. **Steen, Sam** (2007). Academic success through group work; Linking social skills, achievement, learning behaviour and collaboration. DAI-A 67/11, p.4105.
15. **UNESCO** (2001). Life Skills in Non Formal Education; A Review, UNESCO.

16. **Wechsler, D.** (1940). Non Intellective factors in General Intelligence. Psychological Bulletin, 37, pp. 444 – 445.
17. **Y.P. Aggarwal** (1990). Statistical methods, concepts, applications and computations. Sterling Publishers Pvt. Ltd. New Delhi.

Resilience capacity of the individual and unipolar Depression: A pilot Study

Dr. Shailendra Kumar Singh
Associate Professor
Deptt. Of Psychology
M.B.S. PG College, Gangapur Varanasi

Abstract

Psychological resilience is the ability to mentally or emotionally cope with a crisis or to return to pre-crisis status quickly. Resilience exists when the person uses "mental processes and behaviors in promoting personal assets and protecting self from the potential negative effects of stressor. Aim of the study is to assess and compare the nature of resilience capacity in the individual with unipolar depression. As a sample total 100 individuals were selected (50 were uniolar depression patients and 50 normal control) for the study. As a tool socio demographic and clinical data sheet, General Health Questionnaire-5, Beck Depression Inventory and Connor-Davidson Resilience Scale were used for the data collection. Result shows that patients with depression have comparatively poor resilience capacity than normal. Higher psychological resilience relates with lower risk of various physical and mental disorders. Depression is significantly correlated with capacity of resilience of the individual.

Introduction:

The report on Global Burden of Disease estimates the point prevalence of unipolar depressive episodes to be 1.9% for men and 3.2% of women and the one year prevalence has been estimated to be 5.8% for men and 9.5% for women. It is estimated that by the year 2020 if current trends for demographic and epidemiological transition continue, the burden of depression will increase to 5.7% of the total burden of disease. Mood can be defined as a pervasive and sustained emotion or feeling tone that influences a person's behavior and colors his or her perception of being in the world.The two major mood disorders are major depressive disorders and bipolar I disorder, called simply bipolar disorder in the revised third edition of DSM. Patients who are afflicted with only depressive episodes are said to have major depressive disorder, sometimes called unipolar depression. Patients with both manic and depressive episodes and patients with manic episodes alone are said to have bipolar I

disorder. The terms unipolar mania and pure mania are sometimes used for bipolar I disorder patients who do not have depressive episodes.The depressive disorders are characterized by lifelong vulnerability to episodes of disease, involving depressed mood or

loss of interest and pleasure in activities. Individuals may demonstrate ongoing potential for cycling of mood from euthymia to depression to recovery and sometimes to hypomania or mania.Resilience is a complex construct defined as "the capacity to maintain, or regain, psychological well being in the face of challenge". It is an attribute that is possessed to varying degrees by different individuals, a dynamic process (a State) with bidirectional relations to developmental and environmental
factors, and an outcome in the face of stress and adversity. According to many empirical studies resilience is negatively correlated with indicators of mental ill being, such as depression, anxiety, and negative emotion, and positively correlated with positive indicators of mental health, such as life satisfaction, subjective well being, and positive emotion (Kesley et al,2019; Shapero et al,2019; Yin Wu et al,2020).Early resilience research conceptualized the construct as a personality trait permitting positive outcomes under extreme hardship. Resilience research originated in two fields:traumatology (looking at adults) and developmental psychology (looking at children and youth).Resilient individuals are better able to form and maintain positive social relationships, regulate their behavior, and maintain a positive view of the self and their outlook on life (Wright, Masten, & Narayan, 2013).Resilience can lead to greater overall life satisfaction and reduced occurrence of depression (Cohn et al., 2009; Fredrickson et al., 2008; Mak, Ng, & Wong, 2011), even after experiencing a traumatic event (Wingo et al., 2010).Also higher psychological resilience relates with greater amount of positive emotions which in turn also relates with better physical and mental health (Tugade, Fredrickson, Barrett, 2004)**.**The review of literature reflect that very few studies done in the context of resilience in terms of mood disorder especially depression in eastern part of India, so keeping this point in mind the present study was carried out to assess and compare the level and nature of resilience in patient of unipolar depression.

Hypothesis:

Following hypothesis is formulated

$H0_1$- There is no significant difference in nature of resilience between the normal control and patients of Unipolar Depression

Methodology:

Venue of the study:

Nature of the study was cross sectional and comparative in nature.\

Sample:

Total 100 individuals were taken as sample for the study. Among this 50 individuals were taken from different private clinics who consulted and diagnosed as Unipolar depression according to ICD-10(DCR) by psychiatrist and 50 normal controls were selected from the same habitat area. Unipolar Depression Patients constituted the experimental group whereas normal group constituted the control group for the study. Sample was collected on the basis of purposive sampling method.

Inclusion criteria for the Unipolar Depression Patients (Experimental Group)

Individual within age range of 18-40 yrs

Individual must be diagnosed as unipolar depression

Individual of either sex

Individual must be educated minimum upto 10^{th} standard

Individual must be stable and able to comprehend and respond on the test items

Inclusion criteria for the normal group(Control Group)

Individual must be scored below on cut off score of General Health Questionnaire

All other criteria are same as unipolar Depression patients group

Exclusion criteria

Individual not cooperative for the study

Tools Used:

Socio demographic and Clinical data Sheet

1. A socio demographic and clinical data sheet containing indicators of socio demographic variable and clinical variables related to unipolar depression especially designed for the study was used.

2. General Health Questionnaire-5 (Shamsunder etal,1986) was used to screen out any psychiatric morbidity in the subjects at the time of the assessment.

3.The Hindi version of the Beck's Depression Inventory has been used. It is a 21-item scale and is used for measuring attitudes and symptoms associated with depression.

4.The Connor-Davidson Resilience Scale - CD-RISC (Connor & Davidson, 2003) – It is one of the most common instruments to assess resilience amongst adults. This scale has 25 items. Each item is rated on a five-point scale (0 = not at all true to 4 = true nearly all the time). The total score ranges from 0 to 100, with higher scores corresponding to higher levels of resilience. The original research reported that the scale included five factors: factor 1 describes the notion of personal competence, high
standards, and tenacity; factor 2 relates to trust in one's instincts, tolerance to negative affect and the strengthening effects of stress; factor 3 was related to the positive acceptance of change and secure relationships; factor 4 refers to control; and factor 5
concerns spiritual influences. The scale had good psychometric properties (Cronbach's alpha = .89; test-retest reliability: intra class correlation coefficient = .87), but the reliability of the factors was not reported.The CD-RISC has been validated in a variety of countries and Cultures.

Procedure for data collection:

According to inclusion and exclusion criteria sample were collected. After getting informed consent from the individuals and corresponding authorities, all sample were interviewed. For screening the level of depression BDI was administered and for ruling out any psychiatric morbidity in the normal control GHQ- 5 was administered. After

getting relevant socio demographic and clinical details, all selected questionnaires were administered in the sessions according to the convenience of the sample.

Statistical analysis

For analysis of raw data especially Mean SD and t-ratio was applied with the help of SPSS win 22 version.

Result:

The results obtained after the statistical analysis of collected data have been described here in the following sections.

Socio- demographic and clinical characteristics of the sample

Result show that both groups were comparable on all the selected socio demographic variables. There was no significant difference was found between the both study groups. Although data reflect that most of the sample were male, educated above graduation, unmarried, belongs to nuclear family and semi urban area of habitat. It also show that all the patients were have mild level of depression at the time of assessment,67% patient have only one episode of depression and 87% patients have no psychotic feature at present episode.

Table-1: Comparison of resilience between Unipolar Depressive group and Normal Control Group

variable	Unipolar Depressive group	Normal Control Group	t	df
Resilience	47.63±6.32	57.79±5.11	23.12**	98

** sig. on .01 level

Above table show that both groups differed significantly on

resilience scale (t=23.12).Unipolar Depressive group have comparatively low mean score than normal control group which reflect poor resilience capacity in the patients with unipolar depressive groups.

Table-2 Showing Correlation of depression with resilience

Variable	Unipolar Depression
Resilience	-.81**

** sig. On .01 level

Result also shows that resilience is Significantly negatively correlated with depression.

Discussion:

Depressive group have comparatively low mean score than normal control group. Findings of some earlier studies also support the present result finding. They found that resilient individuals are better able to form and maintain positive social relationships, regulate their behavior, and maintain a positive view of the self and their outlook on life (Wright, Masten, & Narayan, 2013)**.** Ultimately, resilience can lead to greater overall life satisfaction and reduced occurrence of depression (Cohn et al., 2009; Fredrickson et al., 2008; Mak, Ng, & Wong, 2011), even after experiencing a traumatic event (Wingo et al., 2010). We conceptualize psychological resilience as a multidimensional, dynamic capacity influenced by the interaction of internal factors (e.g., cognitive capacity, personality, physical health) and external resources (social status, financial stability). In the context of depressive disorder, psychological resilience refers to the net effects of a variety of psychosocial and biological variables that decrease risk of onset or relapse, decrease illness severity, or increase probability or speed of recovery. Higher psychological resilience relates with lower risk of various physical and mental disorders.

Conclusion: Higher psychological resilience relates with lower risk of various physical and mental disorders. Depression is significantly correlated with capacity of resilience of the individual.

References:

Beck AT, Ward CH, Mendelson, M & Erbaugh.J(1961). An inventory for measuring depression. Archieves Genral Psychiatry.4:561-571.

Cohn, M. A., Fredrickson, B. L., Brown, S. L., Mikels, J. A., & Conway, A. M. (2009). Happiness unpacked: Positive emotions increase life satisfaction by building resilience. *Emotion, 9*(3), 361–368. https://doi.org/10.1037/a0015952

Fredrickson.B.L., Cohn,M.C.,& Finkle.S.M(2008). Open hearts build lives: Positive emotions, induced through loving - kindness meditation, build consequential personal resources. *Journal of persoanlity Social psychology*,12-15(6).

Kesley.T., Laird, Beatrix K & Helen.L.(2019). Psychological factors of resilience and depression in late life. *Transitional Psychiatry*,9,88-93

Mak, Winnie W. S.,Ng, Ivy S. W.,Wong, Celia C. Y.(2011).*Resilience: Enhancing well-being through the positive cognitive triad.Journal of Counseling Psychology*, Vol 58(4), 610-617

Shapero.B.G., Farabaugh.A., & Fava.M et al.(2019). Understanding the effects of emotional reactivity on depression and suicidal thoughts and behavior: moderating effects of childhood adversity resilience. *Journal of Affective Disorder*.241,419-472

Wingo.A.P;Wrenn.G; Bradely.B & Ressler.K.J.(2010). Moderating effects of resilience on depression in individuals with a history of childhood abuse or trauma exposure. *Journal of Affective Disorder*. 126(3):411-414.

Wright, M. O., Masten, A. S., & Narayan, A. J. (2013). Resilience processes in development: Four waves of research on positive adaptation in the context of adversity. In S. Goldstein & R. B. Brooks (Eds.), *Handbook of resilience in children* (pp. 15–37).Springer Science + Business Media. https://doi.org/10.1007/978-1-4614-3661-4_2

Yin Wu., Zhi-Quin.S., & Jurgen.M(2020). The relationship between Mental health in Chinese college students: a longitudinal cross – logged analysis. *Frontier Psychology*,05.11.16.